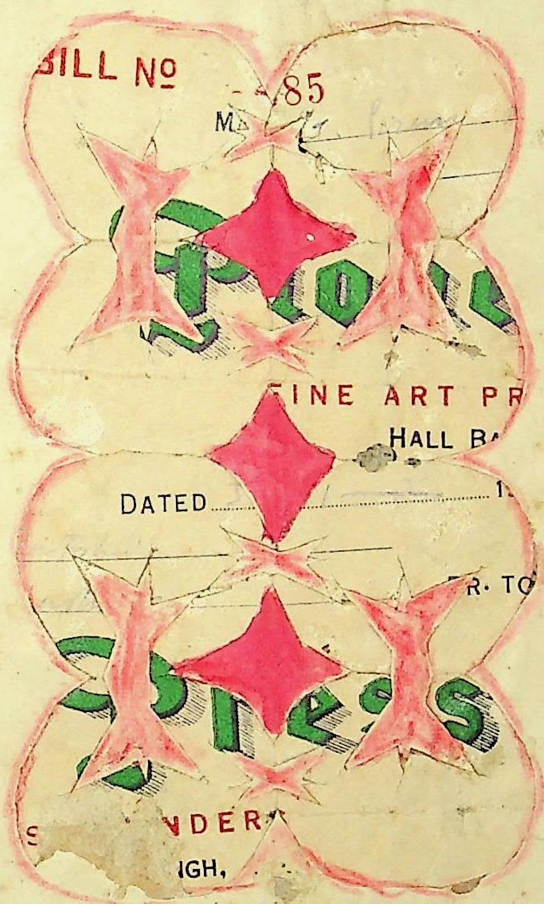
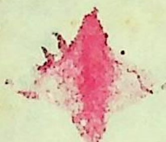


इस पुस्तक का अधिकारी

ओंकार नाथ ज्योतिषी







जीवन-रहस्य

लेखक

प्रो० निर्मल चन्द्र

प्रकाशक

सत्-ज्ञान परिषद्

कमला नगर, देहली ६.

प्रथमावृत्ति] १९५४ [मूल्य : १॥)

प्रकाशक,
सत्-ज्ञान परिषद्,
कमला नगर देहली-६.

मुद्रक,
मनमोहन प्रिंटिंग प्रेस,
नई सड़क, देहली ।

भूमिका

मानव जाति की वर्तमान दशा अति संकटपूर्ण दिखाई देती है। समस्त जगत् में अशान्ति फैल रही है और चारों ओर से आतंक की काली घटाएँ उठ रही हैं। विज्ञान की नवोपलब्ध तथा अत्यन्त भयावह शक्तियों ने हमारे भविष्य को अनिश्चित ही नहीं, अपितु नितान्त आशंकापूर्ण बना दिया है। जहाँ एक ओर अन्तर्राष्ट्रीय ऐक्य तथा सहकारिता की चर्चा दिन प्रति दिन तुमुल होती जा रही है, वहाँ दूसरी ओर आन्तरिक विद्वेष तथा संदेह अधिकाधिक वर्धित हो रहे हैं। वायुमण्डल में तो विश्वशान्ति का ढिंढोरा पीटा जा रहा है, परन्तु मनों में बड़ी ही व्यग्रता के साथ तृतीय महायुद्ध की तैयारियां जारी हैं।

इस विपद-संकुल स्थिति में भारत जो कुछ कर रहा है, उसकी सराहना तो विश्व संसार में हो ही रही है। किन्तु इसमें यथेष्ट सफलता होने नहीं पा रही। कारण यह है कि यह सफलता केवल बाह्य तथा क्रियात्मक प्रयत्नों से ही प्राप्त नहीं की जा सकती। इसके लिए मानव जगत् में आत्म-जागृति भी परमावश्यक है। अर्थात इसमें स्थायी रुप से बाह्य परिवर्तन लाने से पहले इसके अभ्यन्तर विचारों तथा भावनाओं का परिवर्तित होना अनिवार्य है। जड़ पदार्थों को तो बाहर से बदला जा सकता है, किन्तु जीवन जगत् में आन्तरिक परिवर्तन के पश्चात ही रूपान्तर सम्भव होता है।

अतएव वर्तमान युग की परम आवश्यकता यह है कि संसार में जीवन-परिज्ञान का उजाला प्रसारित किया जाए। अर्थात प्रत्येक व्यक्ति और समस्त राष्ट्र यह जान लें कि "जीवन उद्देश्य क्या है?" "जीवन की सफलता और पूर्णता किस बात में है?" "हम

यहाँ किस लिए हैं ?" और "परस्पर मिल कर जीने के मौलिक तत्व क्या हैं ?" हम केवल पुरातन अतीत के अनुगामी होने के स्थान पर नूतन भविष्य के निर्माता हो सकें। और अपने लिए आप ही प्रदीप तथा नियम बन जाएँ।

जब तक हम यथार्थतः मनुष्य न हो जाएँ, तब तक हम मानवोचित सृष्टि की रचना नहीं कर पाएँगे। संसार को आदर्शानुरूप बनाने से पूर्व अपने को बदलना नितान्त आवश्यक है। हमें सर्वप्रथम स्वयं होना होगा। तभी हम स्वजीवन में स्वधर्म पालन कर सकेंगे। यथार्थ रूप से मनुष्य हो कर अपना स्वभावानुकूल कर्त्तव्य पालन करना ही एकमात्र मानव धर्म है। और केवल धर्म सूत्र में ग्रथित होने पर ही मानवता आन्तरिक ऐक्य तथा शांति प्राप्त कर सकती है। इस नवयुग में हमें अनेक परम्परागत तथा विभाजक मतों के स्थान पर केवल सहज तथा स्वाभाविक धर्म ही दरकार है।

सूर्योदय होते ही समस्त कृत्रिम दीपक अनावश्यक हो जाते हैं। इसी प्रकार जीवन-ज्ञान का उजियारा परम्परागत अनेक मतों को अर्थहीन बना देता है। अब समय आ गया है कि हम स्वरूप में जागृत हो कर स्वधर्म पालन करना सीखें। और क्रमविकास द्वारा प्राप्त अपनी पैतृक पाशविकता से नियन्त्रित होने के स्थान पर इसे अपने मानवीय उद्देश्यों की सेवा में लगा दें।

जीवन कोई अभिशाप नहीं, एक वरदान है। हम दुःखी व आतंकित हैं तो केवल इसलिए कि हम अभी तक मानवोचित जीना नहीं सीख पाए हैं। अब तक हमें जो शिक्षा मिलती रही है वह तो केवल आजीविका कमाने तथा समाज का एक पुर्ज़ा बनने के लिए ही थी। किन्तु अब हमें मानवता की विश्वव्यापी समस्या के सन्तोषजनक समाधान के लिए जीवन-विज्ञान तथा जीवन-कला

को शिक्षा अपेक्षित है। इसी महत्वपूर्ण उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही "जीवन रहस्य" ने जन्म लिया है। हमें दृढ़ निश्चय है कि न केवल नवयुग में इसका स्वागत किया जाएगा, बल्कि वैज्ञानिक दृष्टि से इसकी कड़ी आलोचना कर के इस में दिए गए विचारों को भली भाँति परखा भी जाएगा। और अन्ध विश्वास तथा जड़ात्मक स्वीकृति द्वारा इसका निरादर नहीं किया जाएगा।

अन्त में, यह उल्लेखनीय है कि इस पुस्तक को लिपिबद्ध करने, परामर्श देने तथा सतर्कतापूर्वक प्रूफ देखने में श्री विवेक सागर जी ने जो सहायता दी है, उसके बिना ग्रन्थ में कई त्रुटियाँ रह जाने की संभावना थी।

सर्व का अपना आप,

निर्मलचन्द्र

अनुक्रमणिका

विषय		पृष्ठ
१. आदि और अन्तिम तत्व	...	१
२. जीवन विकास के विभिन्न स्तर	...	४
३. सर्वाधिक जानने योग्य	...	७
४. हमारा आत्म स्वभाव	...	११
५. आध्यात्मिक इन्द्रियाँ व आवश्यकताएँ	...	१५
६. द्विगुण प्रकृति	...	१८
७. वैज्ञानिक दृष्टिकोण	...	२२
८. मूल्य जगत् (परा प्रकृति)	...	२६
९. मूल्य—वास्तविक, बाह्य तथा चरम सत्ताएँ हैं	...	२९
१०. सन्तुलित व्यक्तित्व	...	४०
११. हमारा कर्त्तव्य	...	४३
१२. भद्रतर संसार के निर्माण की दो शर्तें	...	५७
१३. हमारी रचना शक्ति	...	६१
१४. जीवन के तीन निर्णायक दृष्टिकोण	...	६५
१५. जीवन की अपनी प्रार्थना तथा उपासना	...	६८
१६. व्यक्ति और समाज का परस्पर सम्बन्ध	...	७५
१७. मानवता एक है	...	७८
१८. मानवीय आवश्यकताएँ	...	८३
१९. स्वर्ग का बीज	...	९२
२०. नई दुनिया की नई मान्यताएँ	...	९७
२१. दो बड़े तत्व तथा भ्रम	...	१०६
२२. जीवन ही धर्म है	...	१०९

१. आदि और अन्तिम तत्व

वह तत्व जिसका आर पार नहीं और जिससे वरे या परे नीचे या ऊपर कुछ नहीं, जीवन है। जीवन ही सारे अनुभव का केन्द्र और परिधि है। सम्पूर्ण अनुभव जीवन से सम्बन्धित तथा इसके अन्तर्गत है। सभी प्रकार का आविर्भाव जीवन से, जीवन का व जीवन के लिये है। जीवन देश-काल से सीमित नहीं है, अपितु देश और पदार्थ तथा काल व घटनाएँ जीवन के अन्दर ही उद्‌भासित होती हैं। जीवन ही सब समस्याओं और उनके समाधानों का मूल स्रोत है। साधन और साध्य, कारण और कार्य भी जीवन के असीम वृत्त के भीतर विद्यमान है। जीवन एक ऐसा अद्‌भुत बिन्दु है जिसके अन्दर सब लोक लोकान्तरों का निवास है। यह एक ऐसा विचित्र क्षण है जिसमें सारे जगत् का शाश्वत अभिनय हो रहा है। जन्म और मरण भी जीवन के ही दो विभिन्न रूपों के नाम हैं।

परन्तु, यहां जीवन से अभिप्राय केवल शारीरिक व जीव-विज्ञान सम्बन्धी जीवन नहीं जो विकास क्रम के अनुसार काल में अभिव्यक्त होता हुआ स्पष्टतया अपना प्रारम्भ और अवसान रखता है। यहां 'जीवन' शब्द उस परम तत्व के लिए प्रयुक्त हुआ है जो है और जो अपने असंख्य विभाव रखता है। प्रकृति, शक्ति प्राण तथा चेतना इसी एक अद्वैत वास्तविक और मौलिक सत्ता के ही विभिन्न भाव हैं जो एक दूसरे से पृथक् न तो कोई अस्तित्व रखते हैं और न ही कोई उनके मध्य कारण-कार्य का सम्बन्ध पाया जाता है।

यद्यपि प्रकृति, शक्ति, प्राण तथा चेतना एक दूसरे से स्पष्टतः भिन्न प्रतीत होते हैं तथापि यदि हम इन्हें एक दूसरे से भिन्न समझने लगें तो वह केवल निर्जीव, निस्सार व छिन्न सताएँ ही होंगे। इनका अस्तित्व परस्पर सम्बन्ध में है। एक दूसरे से वियुक्त होकर वह अपना होना ही खो बैठते हैं। उदाहरणतः फूल जो एक वास्तविक व जीवित सत्ता है, अपने में वर्ण, गन्ध, रस, कोमलता, लम्बाई चौड़ाई, गहराई (ऊँचाई) तथा गुरुत्व रखता है। और यह सारे गुण विभिन्न इन्द्रियों द्वारा जाने जाते हैं। किन्तु इनका वास्तविक अस्तित्व फूल के अन्तर्गत उनके पारस्परिक सम्बन्ध में है; फूल या एक दूसरे से अलग होकर वे कोई सत्ता नहीं रखते।

प्राचीन काल से मनुष्य यह भूल करता चला आया है कि वह अपने अनुभव की वास्तविक और एकमात्र सत्ता की समग्रता को विस्मृत कर उसके विभिन्न रूपों को ही स्वतन्त्र सत्ताएँ समझते हुए दर्शन-पद्धति स्थापित करने के लिए किसी एक विभाव से अन्य समस्त विभावों का उद्गमन सिद्ध करना चाहता है। उदाहरणस्वरूप जड़वादी 'मैटर' को ही आदि व मौलिक तत्व जान कर शक्ति, प्राण और चेतना को 'मैटर' के ही परिणाम बतलाया करते हैं; और आध्यात्मवादी तो इसके बिल्कुल विपरीत चेतना को ही प्राण, शक्ति और 'मैटर' का उदगम बतलाते हैं। संक्षेप में कोई "मैटर", कोई शक्ति और कोई चेतना को ही मौलिक तत्व व अन्य विभावों को उसके परिणाम बतलाया करता है। किन्तु ये विशेषज्ञ इस बात को भूल जाते हैं कि यह सारे विभाव एक ही जीवनानुभूति के आन्तरिक विभेद हैं जो अपने एक प्रत्यक्ष जीवन्त समग्र में वास्तविक सत्ता तो रखते हैं, किन्तु उस समग्र या दूसरे भावों से पृथक् हो कर छाया मात्र रह जाते हैं। केवल जीवन्त शरीर के अन्दर और अन्य अंगों के सम्बन्ध में ही हाथ,

हाथ कहला सकता है। और उस शरीर या उस के दूसरे अंगों से विलग होते ही अपनी सत्ता खो बैठता है।

'मैटर', शक्ति, प्राण या चेतना में से किसी एक को ही मौलिक तत्व मानकर शेष विभावों को उस की अभिव्यक्ति बतलाने का दावा उन अन्धों के दृष्टांत का स्मरण कराता है जो हाथी के एक एक अंग को टटोल कर उसे ही एक स्वतः सिद्ध सत्ता बतलाते थे।

परम तत्व एक समग्र, अविभाज्य और वास्तविक है। विभिन्न ज्ञान शाखाएँ इस के एक एक विभाव को लेकर ही विचार करती हैं। उसी को ही मौलिक तत्व मान लिया जाता है। इसी भ्रान्ति के कारण ही हमारी विद्या भी मूल सत्ता पर एक हिरण्यमय पर्दा बन कर **अपरा विद्या** कही जाती है। जब कि **परा विद्या** एक और समग्र वास्तविक सत्ता को देखती हुई उस के अन्दर सभी विभावों को स्थान दिया करती है। बस, यही एक जो समग्र है, जीवन है। यही शाश्वत, सर्वव्यापी, आद्य व अन्त्य, प्रत्यक्ष व परोक्ष है।

यह जीवन अब और सर्वदा, यहाँ और सर्वत्र विद्यमान है। जीवन अपनी अभिव्यक्ति के अन्दर तो साधन और साध्य रखता है परन्तु अपने से बाहर नहीं। नीच और ऊँच, वास्तव और आदर्श इसके अन्दर तो अर्थ रखते हैं, इस से परे नहीं। जीवन स्वयं ही साधन है और स्वयं ही साध्य। हम यहां केवल जीने और सम्यक् रीति से जीने के लिए हैं। जीवन से बाहर या परे किसी और उद्देश्य को पाने या किसी अन्य सत्ता से युक्त होने के लिए नहीं। और न ही हम किसी लोक या धाम में जाने की तैयारी के लिए उत्पन्न हुए हैं। हम तो जीवन से और केवल जीवन के लिए हैं। और हमारा कृत्य जीवन से परिज्ञात होकर अब और यहाँ पूर्णतः जीना ही है।

---

२. जीवन विकास के विभिन्न स्तर

जीवनाभिव्यक्ति के कई स्तर हैं। जीवन के परिज्ञान के लिए केवल इतना जान लेना पर्याप्त नहीं कि जीवन एक समग्र तथा प्रत्यक्ष सत्ता है, बल्कि इसकी अभिव्यक्ति के स्तरों के क्रम और प्रत्येक स्तर की विशेषताओं का जानना भी परमावश्यक है। भेद और परिणाम जीवन के स्वभाव में अन्तर्निविष्ट हैं। इनके बिना जीवन ही कहाँ है ? जो लोग परम तत्व की अनुभूति के लिए भेद-परिणाम को मिटाना, भुलाना व उपेक्षा करना चाहते हैं वह कभी यथार्थ जीवन, परम सुन्दर, आनन्द स्वरूप और सब को जन्म देने वाली सत्ता तक पहुंच नहीं पाते।

यदि वेदान्त दर्शन जो सर्व-दर्शन की चूड़ामणि है, आज भारत वासियों को नव जीवन तथा नूतनता प्रदान करने में असफल सिद्ध हो रहा है तो इसका कारण हमारी पुरातन भूल है कि यह अपने प्रचलित रूप में भेद और परिवर्तन का निरादर करता हुआ इन्हें भ्रमात्मक बतलाता है। सम्यक् ज्ञान एक में अनेक और अनेक में एक, परिवर्तन में अपरिवर्तन और अपरिवर्तन में परिवर्तन, आप में सर्व और सर्व में आप, अनित्य में नित्य और नित्य में अनित्य की साक्षात् अनुभूति है। यह ज्ञान सजीव होने के कारण जीवन प्रद है। भेद और परिवर्तन से पलायन की प्रवृत्ति मानसिक स्वास्थ्य की खराबी और गुप्त भय का चिन्ह है। स्वस्थ तथा सम्पूर्ण जीवन अपने प्रत्येक विभाव को अपने अन्दर यथायोग्य स्थान देता हुआ किसी विभाव को भी अनावश्यक या निरर्थक नहीं मानता।

जब इस बात को भली भांति समझ लिया कि मूल तत्व एक और समग्र है और व्यापक अर्थ में नित्य व सर्वव्यापी जीवन है

तब स्थिरता और गति, जड़ता और प्रगति, अचेतना और चेतना तथा नीच और ऊँच को इसी के अन्तर्गत स्थान देना पड़ता है। जीवन कहीं से आरम्भ होकर कहीं समाप्त होने वाली वस्तु नहीं है।

जबकि जीव-विज्ञान सम्बन्धी परिभाषा में इस पृथ्वी पर जीवन की अभिव्यक्ति न हुई थी तब भी जीवन जड़ पदार्थों में पड़ा सोता था। उस समय उसमें अपनी वर्तमान स्थिति से पर्युत्थान कर के बृहत्तर पूर्णता व उच्चतर आदर्श पर पहुँचने की कोई प्रवृत्ति दृष्टिगोचर न होती थी। पत्थर मानो अपनी सत्ता में ही सो रहे थे। उनके भीतर स्तम्भ या मूर्ति का रूप धारण करने की प्रवणता न थी। यही स्थिति अन्य जड़ पदार्थों की भी थी।

जब अनुकूल घटनाओं में जीवनाभिव्यक्ति का आरम्भ हुआ तब वनस्पति में वृद्धि व प्रजनन की प्रवृत्तियां प्रगट हुई। और पशु पक्षी के आविर्भाव ने जल थल व वायु को आबाद कर दिया। उद्भिज से आगे बढ़ कर इसमें इन्द्रियों और चेतना का आविर्भाव होने लगा। अर्थात् जीवन अपनी इन्द्रियों द्वारा अपनी परिस्थिति को देखने, सुनने, छूने, चखने, सूँघने और अपने मस्तिष्क द्वारा अपनी आवश्यकताओं को ढूँढ़ने और पाने के योग्य हो गया।

जड़ पदार्थों में परमाणु और शरीर एक दूसरे से अलग थलग पड़े थे। वनस्पति में इन के मध्य भक्षक और भक्ष्य का सम्बन्ध स्थापित हो गया। और एक शरीर से अन्य शरीर उत्पन्न होने लगे। इस से भी आगे चलकर पशु जीवन्त शरीरों में पारस्परिक आकर्षण अनुभव करने लगे। और आपसी संघर्ष की पाशविक रीति से एक दूसरे को अपनाने (दूसरे को खा कर आत्मसात् करने) के लिए संग्राम करने में व्यस्त हो गए।

इसके उपरान्त मनुष्य प्रगट (अवतीर्ण नहीं) हुआ। इसमें वृद्धि, प्रजनन, इन्द्रिय गण, भावनाओं और प्रवृत्तियों के अतिरिक्त सचाई, भलाई व सुन्दरता तथा परम तत्व को जानने की उच्चतर इन्द्रियां जाग उठीं। आत्म चैतन्य, कल्पना और इच्छा की शक्तियों ने अभिव्यक्त होकर इसे अचेतन और अनुत्तरदायी जीव से एक चेतन और उत्तरदायी निर्माता के स्तर पर उठा दिया। इन उच्चतर इन्द्रियों और शक्तियों की सहायता से मनुष्य इसी भौतिक जगत में अभौतिक और वास्तविक घटनाओं में ही सम्भाव्य आदर्शों को देखने के योग्य हो गया।

परन्तु जीवन की अभिव्यक्ति मनुष्य के आविर्भाव पर थम नहीं गई। यह उत्तरोत्तर अग्रसर होती जा रही है। जिस प्रकार वनस्पति और पशु जगत में परमाणुओं और जीवकोष्टों से जीवित शरीर निर्मित हुए हैं अब उसी प्रकार से मानव व्यक्तियों से जातियां बन रही हैं। और विभिन्न जातियां मानवता के अखण्ड शरीर के अंगीभूत होने की प्रवणता दिखाने लगी हैं, क्योंकि अन्यथा मानव जीवन की समस्या का समाधान हो ही नहीं सकता। विभिन्न व्यक्तियों व जातियों को इस पृथ्वी पर आनन्द और शांति की सृष्टि रचने में असफलता ही मिली है। अब तो मानव इतिहास की यही एकमात्र आशा है कि अन्ततः सब व्यक्तियों को जातियों में और सब जातियों को मानवता के सर्व-व्यापी शरीर में प्रतियोगिता की पाशविक प्रवृत्ति के स्थान पर प्रेम के आध्यात्मिक भाव द्वारा एक दूसरे को अपनाने में सफलता होगी।

वनस्पति अज्ञात प्रवृत्तियों और पशु पक्षी ऐन्द्रिय प्रवणताओं के आधीन जीते हैं। किन्तु मानव जीवन के मौलिक तत्व प्रज्ञा तथा स्वतन्त्र इच्छा हैं। मानव जीवन आत्म-चैतन्य व दायित्व का

रचनात्मक जीवन है। इसके स्वास्थ्य तथा साफल्य के लिए परिज्ञान की ज्योति अपेक्षित है। परिज्ञान के बिना केवल सहज बुद्धि, अभ्यास, परम्परा व प्रथा या वाह्य प्रमाण या अन्धविश्वास के अधीन जीना मानो मनुष्य होकर भी पशु की भांति जीना है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार का जीवन वस्तुतः मानव जीवन का अपलाप है। मानव जीवन की शर्त परिज्ञान और इससे उत्पन्न होने वाला दायित्व है।

---

३. सर्वाधिक जानने योग्य

फारसी भाषा में एक कहावत है कि "किसी वस्तु का जानना उसके न जानने से अपेक्षाकृत श्रेष्ठ होता है।" परन्तु चूँकि मानव-मस्तिष्क और जीवन दोनों ही सीमित हैं हमें ज्ञानोपार्जन के समय आवश्यक व अनावश्यक में प्रभेद करते हुए सर्वप्रथम उन तत्वों को जानने के लिए सचेष्ट होना चाहिए जो सब से बढ़ कर आवश्यक है। हमें इन्द्रियाँ और अन्तःकरण जीवन की आवश्यकताओं को पूरा और उसकी कठिनाइयों और जटिलताओं को हल करने के लिए मिले हैं, मनोरंजन के लिए नहीं। चूँकि मानव जीवन अत्यन्त जटिल और उसकी परिस्थितियां अत्यन्त विषम व विस्तृत हैं, इसलिए हमें सब प्राणियों से बढ़ कर मानसिक उन्नति की आवश्यकता है।

चूँकि अन्न-वस्त्र, वास व सुरक्षा आदि जीवन की आधारभूत आवश्यकताएँ हैं इस लिए मनुष्य ने अब तक अधिकतर भौतिक ज्ञान ही प्राप्त किया है। यही कारण है कि भौतिक विद्याओं ने

जिस परिमाण में प्रगति की है वह मनोविज्ञान, नीति आदि अभौतिक विद्याओं को प्राप्त नहीं हो सकी। मनुष्य को अपनी शारीरिक सत्ता की रक्षा के लिए न केवल शारीरिक आवश्यकताओं को यथेष्ट मात्रा में उपार्जित करने की अपेक्षा हुई बल्कि उनके अतिरिक्त भयंकर प्राणियों, व्याधियों व प्रकृति की आकस्मिक दुर्घटनाओं का सामना भी करना था। इस लिये अब तक मनुष्य का ध्यान वाह्य पदार्थों की ओर ही रहा है। शारीरिक आवश्यकताओं ने इसे अवसर ही नहीं दिया कि वह अभौतिक तत्वों के सम्बन्ध में साधारणतः कुछ सोच भी सके।

प्रत्येक देश व युग में विरले व्यक्ति ही ऐसे हुए हैं जिन्हें सौभाग्यवश जीवन के अभौतिक पक्षों के सम्बन्ध में विचार करने का अवसर मिला था। अभौतिक विद्याएँ ऐसे लोगों के ही अनुसन्धानात्मक प्रयत्नों का फल है। स्वभावतः ये विद्याएँ पिछड़ी हुई हैं और इन्हें मुश्किल से ही विज्ञान की कोटि में परिगणित किया जा सकता है।

हमारे जीवन के दो बड़े पक्ष हैं, जिन्हें यदि दो ध्रुव कहा जाए तो अनुचित न होगा : एक प्रकृति दूसरा मनुष्य। अभी तक हमारा ध्यान अधिकतर प्रकृति की ओर ही रहा है। मनुष्य को समझा ही नहीं गया। किन्तु अब संसार के चिन्तन-शील लोग सोचने लगे हैं कि इतर विद्याओं के साथ-साथ मानव-विज्ञान की भी गवेषणा होनी चाहिए। और अब जब कि भौतिक विद्याओं की प्रगति और यान्त्रिक रचनाओं ने वस्तु-उत्पादन की अपरिमित वृद्धि करके शारीरिक जीवन का बोझ हल्का कर दिया है, समय आ गया है कि प्रकृति का अध्ययन करने वाला मनुष्य अपने आप का भी यथार्थ ज्ञान प्राप्त करे। और जहां वह संसार के सब पदार्थों का मूल्यांकन करता है अपने मूल्य का भी यथोचित ज्ञान

प्राप्त करे। किन्तु वर्तमान स्थिति तो यह है कि मनुष्य अन्य पदार्थों का अध्ययन व मूल्यांकन करने में इतना निमग्न है कि वह न केवल आत्म मर्यादा से अनभिज्ञ है बल्कि अपनी अभौतिक सत्ता में भी सन्देह रखता है। इसे तो अपना भौतिक शरीर ही अपना आप प्रतीत होता है और वह अपने अन्तःकरण व ज्ञानेन्द्रियों को भी एक प्रकार के जड़ प्रकृति के परिणाम समझता है।

इसी एकपक्षीय मनोयोग का परिणाम है कि मनुष्य वैज्ञानिक यन्त्रों द्वारा शारीरिक सुख भोग के अगनित प्रसाधन रखता हुआ भी अभ्यन्तरीय आनन्द से वंचित है। और चूँकि उसके लिए अपनी सत्ता और जीवन आनन्दमय नहीं है इसलिए वह आनन्द को अपने चारों ओर वाह्य पदार्थों में खोज रहा है।

यदि शिशु से कहा जाय कि तुम जितने भी वर्ण व रूप देखा करते हो इन्हें देखने वाली दृष्टि कोई वर्ण व रूप नहीं रखती, किन्तु दृष्टि एकरस है, वर्ण और रूप निरन्तर परिवर्तनशील हैं; दृष्टि इनके परिवर्तनों से प्रभावित नहीं होती ; शायद वह इसे नहीं मानेगा। हां जब उसमें विचार शक्ति जागृत हो जाएगी तो वह अपनी दृष्टि के अवर्ण, अरूप, एक तथा अपरिवर्तनशील होने में तनिक भी सन्देह न रखेगा।

इसी प्रकार मनुष्य जब तक वाह्य पदार्थों में ही लीन है, यदि उसे कहा जाए कि तुम्हारी अपनी सत्ता अभौतिक है और वह न केवल भौतिक परिमाणों अपितु मानसिक गुणों से भी विलक्षण, एक व निर्विकार है तो उसे यह कथन सर्वथा भ्रम ही प्रतीत होगा। उसे यह कथन कि उसकी अपनी सत्ता (Self) मापने, तोलने या बांटने में नहीं आती, वह जानती है किन्तु अन्य गेय पदार्थों के समान जानी नहीं जाती; इसमें घटने बढ़ने, सुकुड़ने फैलने, सोने जागने और जन्म मरण की सम्भावना ही

नहीं है; वह है किन्तु कहीं (किसी देश में) नहीं और कभी (किसी काल में) नहीं और कुछ (कोई विशेष वस्तु) नहीं और इस पर भी वह अभौतिक जगत् से अधिकतर सत्ता रखती है क्योंकि वह साक्षी है, जगत् उसका साक्ष्य है; साक्षी सर्वदा अपनी साक्ष्य वस्तु से अधिक सत्ता रखता है, क्योंकि साक्ष्य पदार्थ साक्षी के आश्रित रहता है; पागल की बड़ सा प्रतीत होगा।

यह एक आश्चर्यजनक बात है कि सब प्रकार का ज्ञान अपने आप से आरम्भ होता है और जानने वाला भी जानने से पहले ही विद्यमान होता है। किन्तु मनुष्य को संसार भर के पदार्थों और घटनाओं में ज्ञान के बाद ही अपनी सत्ता का ध्यान आता है। साधारणतः उसे अपनी आध्यात्मिक सत्ता की विद्यमानता की कुछ खबर ही नहीं होती। वह प्रायः दूसरे लोगों से सुनकर मान लेता है कि उसकी देह के अन्दर कहीं न कहीं आत्मा विद्यमान है।

यह ऐसे ही अचम्भे की बात है कि कोई व्यक्ति वर्णों और रूपों को देखता हुआ भी अपनी दृष्टि की विद्यमानता से इसलिए इनकार करने लगे कि दृष्टि तो दिखाई ही नहीं देती।

जिस प्रकार देखने वाली दृष्टि दृष्टिगोचर होने वाले वर्णों और रूपों से अधिकतर सत्ता रखती हुई भी स्वयं देखने में नहीं आती, इसी प्रकार मानवात्मा जो सब कुछ अनुभव करती हुई आंखों से देखती, कानों से सुनती, त्वचा से छूती, रसना से चखती, नाक से सूँघती और अन्तःकरण से जानती है स्वयं दृश्य रूप में देखी सुनी, छुई, चखी, सूँघी या जानी नहीं जा सकती। यही कारण है कि मानवात्मा अपरिभाष्य होने के साथ साथ अनिवार्यतः स्वीकार्य भी है। उपनिषदों में आत्मा को इसी लिए अवर्ण, अशब्द अस्पर्श, अरस, अगन्ध, अचिन्तनीय एवं अनिर्देश्य कहा गया है।

किन्तु हमारी आत्मा समस्त अनुभूति से पहले ही स्वतः सिद्ध और स्वयं प्रकाश है। क्योंकि वही तो सर्वानुभूति का आलोक और सर्वसाक्षी है। और जो सब प्रकार की अनुभूति का अन्तिम परिणाम है वह भला किस प्रकार प्रमाणित हो सकता है ?

मानव सत्ता का उपरोक्त विश्लेषण मानव जीवन के इस मूल तत्व का पूर्णरूपेण स्पष्टीकरण है कि "मनुष्य एक आध्यात्मिक सत्ता है।" वह शरीर और मन रखता है किन्तु स्वयं इनसे ऊपर इनका आधार और स्वामी है। ये यन्त्र हैं वह यन्त्री है। ये उपकरण देश काल में परिमित हैं किन्तु वह स्वयं इनमें सीमित नहीं है।

जब तक मनुष्य अपनी आत्मा को नहीं जानता वह मानव रूप से जीना आरम्भ ही नहीं करता। आत्मज्ञान के बिना धर्म, नीति, विज्ञान और कला मनुष्य को उसका अपना यथोचित स्थान नहीं दे पाते। आत्मज्ञान के बिना अन्य सभी विद्याएँ वस्तुतः अविद्या ही हैं! सम्पूर्ण अनुभव स्वप्नमात्र है। सभी विषय-भोग विभिन्न प्रकार के ताप हैं और स्वयं जीवन भी आध्यात्मिक दृष्टि से मृत्यु समान है। आत्मानुभूति में ही वास्तविक जीवन व आनन्द का रहस्य है।

---

४. हमारा आत्म स्वभाव

केवल इतना जान लेना पर्याप्त नहीं कि मनुष्य एक आध्यात्मिक सत्ता है जो अकाल, अदेश, अवस्तु, भारहीन, अतीन्द्रिय व अप्रमाणीय होते हुए भी सब का अन्तिम प्रमाण, अपरिभाष्य

किन्तु अवश्य स्वीकार्य है या वह सन्मात्र, चिन्ह मात्र और आनन्द घन व मुक्त है।

इस प्रकार का मनोकल्पित आत्मज्ञान जीवन से हारे व उकताए हुए लोगों को सान्त्वना तो दे सकता है, किन्तु जीवन प्रदान नहीं कर सकता। जीवन से मुक्ति का साधन तो हो सकता है परन्तु जीवन को मुक्ति नहीं दे सकता। इस दुःखपूर्ण संसार को भुलाने व इससे पलायन का हेतु तो हो सकता है किन्तु इस संसार को यथेष्ट रूप से रूपान्तरित करने का मार्ग नहीं दिखलाता।

भारत शताब्दियों से ऐसे ही मनः-कल्पित आत्म-ज्ञान को सर्व क्लेशों की निवृत्ति और परमानन्द का साधन निश्चय करके इसका जिज्ञासु चला आता है। किन्तु इस ज्ञान का परिणाम संसार से वैराग्य, उदासीनता, उपेक्षा और विजुगुप्सा है और इसी का फल ससारोत्सर्ग व सन्यास है।

किन्तु जीवन का अर्थ मत्तता, वैराग्य, उपेक्षा, त्याग तथा पलायन के स्थान पर सजगता, सतर्कता, दक्षता, अभिरुचि, अनुराग, दायत्व और स्वीकरण में है। इसका महत्व जागरण में है निद्रा में नहीं; गति में है स्थिति में नहीं; प्रकाशन में है विलय में नहीं; स्फुटन में है मुरझावट में नहीं; संगीत में है नीरवता में नहीं; नृत्य में है पथराव में नहीं।

शताब्दियों का अनुभव घोषणा कर रहा है कि प्रचलित आत्मज्ञान जीवन नहीं दे सकता। जीवन ग्रन्थि को काट तो सकता है इसे खोल नहीं सकता। भवन को गिरा तो सकता है किन्तु इसका निर्माण करने में असमर्थ है। और विश्व जगत को कहीं लय तो कर सकता है किन्तु इसे उत्पन्न करने की क्षमता नहीं रखता।

इसमें तनिक सन्देह नहीं कि प्रचलित आत्म ज्ञान इतना तो बतलाता है कि आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है किन्तु यह नहीं बतला सकता कि किस प्रकार इस सत्ता (सत्) से जीवन, इस जानने (चित्) से ज्ञान, और इस आनन्द से सौन्दर्य का स्रोत प्रवाहित हो सकता है। यह एक-पक्षीय ज्ञान संसार को स्वप्नमात्र बतला कर उड़ाना तो चाहता है किन्तु यह इसी स्वप्न को अपरिमित कलात्मक सौंदर्य देने के योग्य नहीं है। और यही कारण है कि प्रचलित आत्मज्ञान बौद्धिक दृष्टि से इतना समुज्जवल होने पर भी भारत की नसों में जीवन-स्फूर्ति का सचार नहीं कर सका। यह दर्शन एक अतुलनीय मत्तता तो देता है किन्तु बलप्रद भोजन नहीं दे सकता। उपेक्षा तथा अवहेलना तो सिखाता है किन्तु दायित्व की भावना नहीं जगाता।

ऐसे शोचनीय परिणाम यह सिद्ध नहीं करते कि आत्मज्ञान या ब्रह्म ज्ञान व्यर्थ है, अपितु इस बात का निश्चित संकेत देते हैं कि हमारे ज्ञान में कोई त्रुटि व अपक्वता है जिसे दूर करना ही होगा।

किसी वस्तु के अस्तित्व का ज्ञान केवल उसका होना ही प्रगट करता है किन्तु उसके वास्तविक स्वभाव का रहस्य नहीं बतला सकता। किसी भी वस्तु के स्वभाव का पता उसकी उमंगों से लगता है। उदाहरणतः प्रत्येक व्यक्ति का इष्ट ही उसके स्वभाव का रहस्योद्‌घाटन कर सकता है। इसी प्रकार प्रत्येक बीज के स्वभाव का मर्म उसकी भीतरी उमंगों से ही जाना जाता है। समान परिस्थिति में विभिन्न प्रकार के बीज विभिन्न प्रकार के द्रव्यों को आत्मसात् करते हुए अपने अदृश्य स्वरूप का संकेत दिया करते हैं। इसी प्रकार हमें यह देखना होगा कि मनुष्य की आध्यात्मिक सत्ता अपने भीतर क्या क्या उमंगें रखती है। यही उमंगें ही तो

इसकी सत्ता का अर्थ बतला सकती हैं। अन्यथा सत्, चित्, और आनन्द तो सारे अनुभव के समान तत्व हैं जो शिला और उसके ऊपर आसन जमाने वाले ऋषि में समान रूप से पाए जाते हैं। हमें तो स्पष्टतः यह देखना होगा कि हमारी अध्यात्म सत्ता की कौन सी विशेषताएँ हैं जो इसे अन्य भूतों से पृथक् करती हैं।

जीवन की पूरी समझ के लिये समान के साथ विशेष का जानना भी आवश्यक है। अन्यथा हमारे जीवन के प्रति पग अविवेक की बाढ़ में बह जाने की आशंका रहेगी। जीवन, विभिन्नता में एकता का नाम है। केवल संयोग नहीं, द्वन्द्वों का संयोग।

यदि हमारी अध्यात्म सत्ता केवल सन्मात्र है तो उसका महत्व ही क्या है? यदि उसका स्वरूप केवल चिन्मात्र है तो उसका मूल्य ही क्या? और यदि यह आनन्द घन ही है तो मत्तता पर यह कौन सी उत्कृष्टता रखती है? केवल मात्र होने जानने का आनन्द तो शायद सर्वभूत का मौलिक किन्तु निम्नतम समान तत्व है। इसमें आध्यात्मिक उच्चता या महत्व ही क्या है? तथा ऐसे ज्ञान में जगाने, उभारने और उठाने वाली बात ही क्या है? ऐसे ज्ञान में दुःख भरे जीवन का अस्त हो जाना तो सम्भव है किन्तु इससे आनन्दपूर्ण जीवन का उदय नहीं हो सकता।

आध्यात्मिक सत्ता के वास्तव ज्ञान से जीवन प्राप्त करने के लिए यह जानना अत्यावश्यक है कि **"मनुष्य का आत्म स्वभाव सचाई, भलाई व सुन्दरता को जानना, पहचानना, ऐसे मूल्यों का अपरिमित सम्मान करना, उनके लिए आकाँक्षी होना और उन्हें सुरक्षित रखने, बढ़ाने और उत्पन्न करने के लिए यत्नशील रहना है।"**

---

५. आध्यात्मिक इन्द्रियाँ व आवश्यकताएँ

मानवात्मा केवल है ही नहीं, बल्कि यह भी शरीर के समान एक जीवित सत्ता है। और अपनी इन्द्रियाँ, शक्तियाँ व आवश्यकताएँ रखती है। जिस प्रकार हम दैहिक इन्द्रियों द्वारा वर्णों, शब्दों, रसों आदि के अपरिमित जगत के सम्पर्क में आते हुए अपनी शारीरिक उन्नति या जीवन स्थिति के लिए इस प्राकृत संसार में अपना आहार ढूँढ़ते और श्वास लेते हैं, इसी प्रकार आत्मा भी अपना आध्यात्मिक जगत रखती है। जो कि अभी और यहीं विद्यमान है। किन्तु वह शारीरिक इन्द्रियों के स्थान पर आध्यात्मिक इन्द्रियों द्वारा जाना जाता है। इन्हीं इन्द्रियों द्वारा ही मनुष्य सचाई, भलाई व सुन्दरता का ज्ञान लाभ करता हुआ इन मूल्यों की कहीं सीमा देख नहीं पाता। वह इस आध्यात्मिक जगत के लिए अमिट क्षुधा रखता है और वह जितना आध्यात्मिक भोजन ग्रहण करता है उतनी ही उसकी क्षुधा बढ़ती चली जाती है। इस आत्म भोजन को पाए बिना मनुष्य कभी शान्ति और आनन्द को पा नहीं सकता।

जिस प्रकार सचाई, भलाई व सुन्दरता द्वारा शारीरिक क्षुधा शान्त नहीं हो सकती, इसी प्रकार समस्त जगत् को लेकर भी किसी एक जीवात्मा को शांति नहीं मिल सकती क्योंकि जहाँ मानव शरीर वाह्य जगत की तुलना से अत्यन्त क्षुद्र है वहाँ विश्व जगत भी मानो आत्मा के समक्ष तुच्छ व नगण्य है। आत्मा का आहार, शान्ति और आनन्द आध्यात्मिक जगत् में हैं, जो वस्तुतः असीम और अविनश्वर है। इसी आध्यात्मिक आहार के सम्बन्ध में सुख्यात सूफी शम-सि-तबरेज़ी कहता है—"हम जीवनाहार से जीते हैं; ताकि तू यह गुमान न करे कि हम रोटी खा कर जिया करते हैं।"

मनुष्य का अपना घर अपना धन और इसका अपना जीवन न पृथ्वी पर है न आकाश में, न भूत में है न भविष्य में, अपितु इसी अकाल अदेश असीम और अपरिमेय आध्यात्मिक जगत में है। यहीं असीम शक्ति और आनन्द के स्रोत पाए जाते हैं। इस अदृश्य जगत को बाँटा या तोला नहीं जा सकता। इसी अनन्त सचाई, भलाई व सुन्दरता के जगत् को ही मूल्य जगत् कहते है। गीता में इसे ही **परा प्रकृति** का नाम दिया गया है। मनुष्य इन्हीं मूल्यों में ही व्यक्तित्व आरोप करता हुआ, इन्हें **सत्यं, शिवं और सुन्दरं** कहा करते हैं। यही मूल्य जगत् हमारा वास्तविक और पूज्य इष्टदेव है, जिसे अधिकाधिक पाने तथा जानने के लिए मानवीय हृदय और मस्तिष्क से प्रार्थना तथा उपासना के भाव उदय हुआ करते हैं। पशु वर्ग प्रार्थना और उपासना को जानते ही नहीं, क्योंकि वह आध्यात्मिक इन्द्रियों से वंचित होने के कारण इस आध्यात्मिक अदृश्य और अविनश्वर जगत् को जान ही नहीं सकते। यह मनुष्य ही है जो इस अभौतिक जगत् को जानता हुआ इसे और ही और पाने की भूख से तड़पा करता है। यह मानवी व आध्यात्मिक मूल्य शारीरिक इन्द्रियों के विषय नहीं हैं और न ही सद्भाव और सौन्दर्य के अस्तित्व को तर्क बुद्धि द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है।

मनुष्य सचाई, भलाई व सुन्दरता को जानने के लिए आध्यात्मिक इन्द्रियाँ और वह अनन्त क्षुधा रखता है जो आहार वृद्धि के साथ साथ ऐसा आनन्द प्रदान करती है कि जिसकी उग्रता और स्थायित्व के सामने शारीरिक जगत् के समस्त विषय भोग राख का ढेर प्रतीत होते हैं। **अपरा प्रकृति** के क्षणिक सुखों की ओर वही लोग गिरा करते हैं जो **परा प्रकृति** से आनन्द लेने के लिए अभी प्रस्तुत नहीं हो सके।

यदि मानव जीवन में मुक्ति, शान्ति तथा आनन्द के शब्द नितान्त व्यर्थ न हों तो उनकी प्राप्ति की सम्भावना न तो केवल सत् और चित् में निमग्न हो जाने में है और न ही द्वन्द्वात्मक विषयों के पीछे दौड़ने में है। इस अन्तर्धन की प्राप्ति केवल आध्यात्मिक जगत् में जीने से होती है। पशु पक्षी तो केवल **अपरा प्रकृति** के सम्बन्ध में ही जिया करते हैं। इस पृथ्वी पर केवल मनुष्य ही अपनी आध्यात्मिक सत्ता को पहचानता हुआ **परा प्रकृति** के मूल्य जगत् में जीने की योग्यता रखता है।

सचाई, भलाई व सुन्दरता का अनुभव विशुद्ध आत्मानन्द प्रदान करता है। यह आनन्द न तो शारीरिक सुखों के समान अपनी प्राप्ति से पहले दुःख देता और न ही अपने पीछे दुःख लाता है। अपनी प्रतिक्रिया न रखने के कारण यह आनन्द विशुद्ध कहलाता है जब कि शारीरिक सुख अपनी प्रतिक्रिया रखने के कारण अशुद्ध माने गये हैं।

शारीरिक सुख भोग अहंकार को बढ़ाते हैं क्योंकि उनमें स्वत्व का भाव पाया जाता है। किन्तु आध्यात्मिक सुख अवैयक्तिक होने के कारण हमें अहंभाव के बन्धन से मोक्ष देते हैं। सचाई में स्वेच्छाचार, भलाई में स्वार्थ और सुन्दरता में अस्मिता के तत्व विद्यमान ही नहीं होते। इन मूल्यों की सहजानुभूति क्रमशः विस्माद, सम्मान तथा प्रशंसा के भावों को उभारती हुई मनुष्य को आत्मविभोर बना देती है।

केवल आत्मा को ही एकमात्र परम तत्व बतला कर परा प्रकृति को भ्रमात्मक ठहराना ऐसी ही मारात्मक भूल है जैसे सूर्य का अस्तित्व स्वीकार करते हुए उसके ताप व आलोक का अस्वीकार। एक-पक्षीय आत्म ज्ञान परा प्रकृति व अपरा प्रकृति के भेदों और

इनके परस्पर सम्बन्ध को तो जानता ही नहीं। वह इन दोनों को मन की कल्पना और माया का जादू कह कर बातों बातों में उड़ाना चाहता है। परन्तु सच तो यह है कि प्रकृति के उड़ते ही पुरुष भी अर्थहीन हो जाता है, क्योंकि पुरुष और प्रकृति में द्रष्टा और दृश्य का सम्बन्ध होने से यह एक दूसरे की अपेक्षा से ही सत्ता व अर्थ रख सकते हैं। और एक दूसरे से पृथक् होते ही "हम न तुम, दफ्तर गुम" का मामला हो जाता है।

पुरुष और प्रकृति दो विभिन्न पदार्थ नहीं हैं। पुरुष अपनी ही प्रकृति (स्वभाव) रखता है। एक ही अध्यात्म-तत्व दो पार्श्वों के रूप में प्रगट होता है। प्रकृति में डूब कर हम अपना आप (पुरुषत्व) खो बैठते हैं और केवल अपने आप में मग्न हो कर (कैवल्य अवस्था में) हम जीवन के गतिशील और रचनात्मक आनन्द से वञ्चित रह जाते हैं।

लेखक का जीवन यदि कोई विशेष मिशन रखता है तो वह यही है कि आत्म ज्ञान को उसके विकृत रूप से प्रकृत रूप में लाते व जीवनप्रद बनाते हुए परा प्रकृति के खोए हुए अमूल्य और निगूढ़ रहस्य को फिर से संसार में प्रकाशित किया जाए।

---

६. द्विगुण प्रकृति

डार्विन ने विकास क्रम को वर्णित तो किया है, किन्तु वह इसकी व्याख्या नहीं कर सका। वह "क्या" के विषय में क्यों का उत्तर न दे सका, जब कि हीगल और मार्क्स ने बतलाया है कि द्वन्द्वों के संघर्ष के विना विकास सम्भव ही नहीं। मौलिक सत्ता

अपने आविर्भाव के लिए अपने स्वभाव से ही द्वन्द्व उत्पन्न कर लेती है। द्वन्द्व जीवन का सार है। यद्यपि बौद्धिक न्याय इसे सहन नहीं कर सकता।

केवल आत्मा (ब्रह्म) से जिसे सन्मात्र व चिन्मात्र व आनन्द-घन बताया जाता है, जगत् की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। इसी लिए जगत् की व्याख्या के लिए शंकर को माया की कल्पना करने की आवश्यकता हुई थी। हमें माया शब्द पर तनिक आपत्ति नहीं, उस दशा में जब कि माया से अभिप्राय ब्रह्म का अपना ही स्वभाव (प्रकृति) हो।

प्रकृति दो प्रकार की है—(१) परा (२) अपरा। अपरा प्रकृति का ज्ञान इन्द्रियों व अन्तःकरण द्वारा होता है जब कि परा प्रकृति (सचाई, भलाई, सुन्दरता) का ज्ञान आध्यात्मिक इन्द्रियों द्वारा। इन दोनों प्रकृतियों की परस्पर द्वन्द्वता को हम नीचे वर्णन करते हैं :—

परा प्रकृति (मूल्य जगत्)	(अपरा प्रकृति (पदार्थ जगत्)
१. अभौतिक	१. भौतिक
२. अकाल, अदेश	२. काल व देश में
३. अपरिमित, अविभाज्य, अपरिमेय,	३. सीमित, विभाज्य, परिमेय
४. आध्यात्मिक इन्द्रियों (सहज ज्ञान) द्वारा जानी जाती हैं।	४. शारीरिक इन्द्रियों द्वारा जानी जाती है।
५. दान और वितरण से बढ़ती है।	५. दान और वितरण से घटती हैं।
६. अविनश्वर	६. नाशवान्
७. कर्त्ता व चेतन स्वरूप	७. कर्म व अपने आप में अचेतन।

इन दोनों प्रकृतियों के परस्पर संघर्ष से ही सर्व भूतों का आविर्भाव और इनके परस्पर सम्बन्ध में ही विज्ञान, नीति और कला का जन्म होता है। अविद्या, बुराई व कदर्यता की अपेक्षा से ही विद्या, भलाई और सौन्दर्य अर्थ रख सकते हैं। किन्तु इनका परस्पर विरोध बाह्य और अनित्य है। इन का हृदय एक ही है। और अन्ततः इनका इसी प्रकार ही ऐक्य हो जाता है जिस प्रकार कच्चे फल की कड़वाहट अन्त में पक्के फल की मिठास में परिवर्तित हो जाती है। जिस प्रकार बाधा का अनुभव ही शक्ति की इच्छा उत्पन्न करता है, इसी प्रकार अविद्या बुराई व कुरूपता के संवेदन ही हमारे मस्तिष्क और हृदय में विद्या, नेकी और सौन्दर्य की धूप चमकाया करते हैं। अपरा प्रकृति केवल इसलिए प्रगट होती है कि अन्ततः परा प्रकृति इसका स्थान ले ले।

वर्तमान द्वन्द्ववाद ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि प्रत्येक घटना में द्वन्द्व का तत्व क्रियाशील होता है। स्थिति में गति और गति में स्थिति; मृत्यु में जीवन और जीवन में मृत्यु; जड़ में चेतन और चेतन में जड़ पाए जाते हैं। हम सभी निरन्तर जी और मर रहे हैं। लगातार बढ़ और घट रहे हैं। इस द्वन्द्व के बिना जगत् और जीवन दोनों ही सम्भव नहीं। अब वह पुरातन विश्वास स्वीकार्य नहीं रहा कि पहले तो स्थिति थी, तत्पश्चात् गति प्रगट हुई। या पहले जगत अविद्यमान था और फिर विद्यमान हो गया।

द्वन्द्व से अस्वीकार आध्यात्मिकता की ओर ले जाने के स्थान पर स्वयं जीवन का ही अपलाप है। जीवन द्वन्द्व के मिलाप में और सौन्दर्य भेद के सामञ्जस्य में है। केवल होने में कोई आध्यात्मिकता नहीं। कोई सौन्दर्य नहीं और कोई जीवन आनन्द नहीं।

हेरक्यूलिटिज़ के दर्शन और जैन मत में यही द्वन्द्ववाद देखा जाता है। गीता में भी दो प्रकार की प्रकृति बतलाई गई है।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।। भ० गी० ७, ४।।
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ।। भ० गी० ७, ५ ।।

अर्थः—"हे अर्जुन! पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तथा मन, बुद्धि और अहंकार भी ऐसे यह आठ प्रकार से विभक्त हुई मेरी प्रकृति है ।।४।। यह आठ प्रकार के भेदों वाली तो अपरा है अर्थात् जड़ प्रकृति है। और हे महाबाहो! इससे दूसरी को मेरी जीवनरूप परा अर्थात् चेतन प्रकृति जान, कि जिससे यह सम्पूर्ण जगत धारण किया जाता है ।।५।।"

जिस प्रकार दृश्य, भारयुक्त, देश-काल में व्यक्त होने वाली पुस्तक वस्तुतः अदृश्य, भारहीन, अदेश, अकाल अर्थ के आश्रय होती है और स्पष्टतया पुस्तक के अर्थ पुस्तक की अपेक्षा उच्चतर सत्ता रखते हैं। इसी प्रकार दृश्य (अपरा) प्रकृति अदृश्य (परा) प्रकृति के आश्रय है। यद्यपि जड़वादी लोग इसके विपरीत विचार धारा रखते हैं।

प्रचलित वेदान्त की दृष्टि में सभी बाह्य दृश्य अर्थहीन, आकस्मिक और भ्रममूलक हैं क्योंकि वह प्रकृति-ग्रन्थ में परा और अपरा के भेद को देख नहीं सका। नाम और रूप जिन्हें मायावादी वेदान्त मिथ्या तथा काल्पनिक बतलाता है, पुस्तक के अक्षरों के समान अर्थ प्रकाश के अत्यन्त मूल्यवान तथा आवश्यक साधन हैं। किन्तु मायावादियों ने नाम और रूप को सर्वथा व्यर्थ बतलाया है। ये लोग पुस्तक के यथार्थ भाव को उसके अर्थों के ढूँढ़ने के

स्थान पर उसे पुस्तक की मसि में ढूँढ़ा करते हैं। एकरसता और परिवर्तन एक ही जीवन्त सत्ता के दो आवश्यक पहलू हैं। केवल एकरसता और परिवर्तन में न कोई आध्यात्मिकता है, न ही कोई जीवन।

मूल तत्व की अपनी ही द्विगुण प्रकृति जगत् और जीवन के रहस्य का उद्घाटन कर सकती है। माया का जादू न केवल सृष्टि की व्याख्या करने में असमर्थ है, बल्कि समस्त अनुभव को व्यर्थ समझता है।

---

७. वैज्ञानिक दृष्टिकोण

विज्ञान अपने विद्या-प्रासाद के निर्माण के लिए इन्द्रियाँ, अणुवीक्षण, दूरवीक्षण के समान यन्त्रों द्वारा उपादान एकत्रित करता है। और चूँकि इन्द्रियाँ केवल प्रकृति को ही अनुभव कर सकती हैं, विज्ञान प्रकृति से परे कुछ देख ही नहीं पाता। यह तो अन्तःकरण या चैतन्य को भी प्रकृति की एक आकस्मिक घटना जानता है। इसे जगत् में भौतिक परमाणुओं, शक्तियों और अपरिवर्तनीय नियमों के सिवा कुछ दिखाई नहीं देता। इसके मतानुसार अन्तःकरण कोई कारण सम्बन्धी प्रभाव नहीं रखता, क्योंकि यह स्वयं एक कार्य है। जगत् एक प्रकाण्ड कल है जो निर्दिष्ट नियमों के अनुसार चल रही है। भौतिक परमाणुओं की आकस्मिक गतियों ने हमारे विचारों, आदर्शों, आशाओं, शंकाओं, उमंगों, पुष्पावलि के सौरभ, सूर्यास्त के वर्णों और कला को जन्म दे दिया है। जगत् के विस्तृत प्रांगण और अत्यन्त दीर्घ काल में इस पृथ्वी पर जीवन का आविर्भाव एक जुगनूँ की

चमक से अधिक कोई महत्व नहीं रखता और जो टिमटिमाती हुई चेतन-ज्योति मानव मस्तिष्क में उद्भासित हो रही है, एक दिन बुझ ही जाएगी। पृथ्वी पर जीवन और चेतना का आविर्भाव एक आकस्मिक घटना है। इस भौतिक जगत् में चेतना का आविर्भाव उस यात्री की यात्रा के समान है जो किसी अन्य देश में जा भटका हो। यह चेतना विश्व सम्बन्धी मन तथा उद्देश्यों को जानती ही नहीं। और जीवन व मन के रूप को प्रकृति और पशु ही निर्धारित करते हैं।

किन्तु विज्ञान का यह भौतिक दृष्टिकोण अपूर्ण व एकपक्षीय होने से जगत् की पूरी व्याख्या नहीं कर सकता। यह हास्य और संगीत में परमाणुओं की गति को तो माप सकता है किन्तु इस के वास्तविक भेद को नही जान सकता। राग को तुला पर कौन तोल सकता है? गणित विद्या राग को किस प्रकार समझ सकती है?

अब हम इस सचाई के प्रति जागरूक होने लगे हैं कि विज्ञान तो मूल तत्व के कतिपय पक्षों पर पृथक् रूप से मीमाँसा करता हुआ उस के महत्वपूर्ण पक्षों को देखता ही नहीं। उदाहरणतः विज्ञान की दृष्टि में मनुष्य जल, मेद, कार्बन, फास्फरस्, लौह, चूना, मैगनेशियम, गन्धक आदि का समुदाय मात्र ही है। भौतिक विज्ञान क्या जानता है कि मनुष्य नैतिक, कलात्मक तथा आध्यात्मिक उमंगें व आदर्श भी रखता है? यह सद्भाव सौन्दर्य व आनन्द को समझ ही नहीं पाता क्योंकि भौतिक इन्द्रियों तथा यन्त्रों द्वारा इन आध्यात्मिक मूल्यों का जानना सम्भव ही नहीं है। अतएव विज्ञान मानवात्मा, मूल्यों तथा आदर्शों के तत्व से अस्वीकार के लिए यदि न्यायवत् नहीं तो बाध्य अवश्य है। वस्तुतः विज्ञान मूलसत्ता से जो सर्व और एक है, सम्बन्ध रखने की बजाए केवल इसके विशेष पहलुओं के साथ ही सम्बन्धित है। इसका विशेष कार्य विश्लेषण, चीरफाड़ तथा कतर-

ब्योंत ही है। यह पदार्थों की जो रूप रेखा प्रस्तुत करता है, उसमें मन तथा मूल्यों को स्थान ही नहीं देता और यह कहना अक्षरशः ठीक होगा कि वैज्ञानिक जगत अखिल जगत् न हो कर वास्तव जगत् की एक छिन्न सत्ता मात्र ही है और इस लिए यह जीवन के दूसरे पहलुओं पर मीमाँसा कर ही नहीं सकता।

आज विज्ञान अपने आश्चर्यजनक और अवश्य-स्वीकार्य हितों के नाते इतना लोकप्रिय हो रहा है कि हमारा अन्तःकरण मुश्किल से ही इस की त्रुटियों को देखना पसन्द करता है। वर्तमान युग का वातावरण विज्ञान के लिए प्रशंसा व श्लाघा से भरपूर हो रहा है। किन्तु इस पर भी हम सत्य प्रकाश के नाते वैज्ञानिक दृष्टिकोण की एक दो सीमाओं का उल्लेख किए बिना नहीं रह सकते।

विज्ञान की स्थापना पर्यवेक्षण पर है और स्पष्टतः अन्तःकरण पर्यवेक्षण का विषय नहीं हो सकता इसलिए विज्ञान अन्तःकरण को प्रकृति का एक विशेष रूप तो मान सकता है, किन्तु इसकी अभौतिकता को स्वीकार नहीं कर सकता।

प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध में दो प्रश्न उठ सकते हैं। 'किस प्रकार' और 'क्यों'। विज्ञान केवल "किस प्रकार" के प्रश्न का ही उत्तर दे सकता है। दूसरे प्रश्न का कदापि नहीं। "किस प्रकार" का उत्तर अतीत में ही ढूंढ़ा जाता है किन्तु 'क्यों' का उत्तर केवल भविष्य में ही मिल सकता है। विज्ञान हर घटना का कारण अतीत में ही ढूंढा करता है। किन्तु कारण के कारण का प्रश्न लगातार अतीत की ओर ले जाता हुआ कहीं विराम-बिन्दु देख नहीं पाता। उदाहरणतः किसी जीव के सम्बन्ध में यह जिज्ञासा करते हुए कि वह किस प्रकार अस्तित्व में आया उसकी वंश की ओर पीछे की ओर जाते हुए प्राथमिक जीवन और उसके पीछे और उसके पीछे पृथ्वी की आरम्भिक घटनाओं और इस से भी पीछे सूर्य और सूर्य से

निहारिका की ओर जाना पड़ेगा। वहाँ पहुँच कर भी वही "किस प्रकार" का प्रश्न बराबर बना रहेगा। इस प्रकार विज्ञान अतीत में ही कारणों का अन्वेषण करता है। किन्तु वह अन्तिम कारण नहीं जान सकता। हरबर्ट स्पेन्सर ने ठीक कहा था कि "विज्ञान सर्वथा गुप्त रहस्य में पर्यावसित होता है।"

किन्तु सब पदार्थ 'किस प्रकार' के प्रश्न के साथ ही 'क्यों' का प्रश्न उठा रहे हैं और जब तक दूसरे प्रश्न का संतोषजनक उत्तर न मिले वह समझे नहीं जा सकते। जब तक भवन या प्रदीप का उद्देश्य जो भविष्य में है विज्ञात न हो हम भवन या प्रदीप को देख तो सकते हैं किन्तु समझ नहीं सकते। इसी प्रकार किसी व्यक्ति की दौड़ का कारण अतीत में भी देखा जाता है। किन्तु उसकी दौड़ का वास्तविक कारण तो उसे भविष्य की ओर से खींच रहा है। जब परीक्षार्थी परीक्षा के हेतु और सब खेल तमाशे छोड़ देता है, तो वह अतीत (कारणों) द्वारा धकेले जाने की बजाए भविष्य की ओर से (उद्देश्य का) आकर्षण अनुभव करता है। हम दौड़ और परीक्षा के वास्तविक उद्देश्यों (विजय व सफलता) द्वारा ही दौड़ और परीक्षा के लिए तैयारी को समझ सकते हैं। परन्तु विज्ञान तो अतीत में ही मूल तत्व को ढूंढ़ा करता है। टेलीफोन की बनावट जानने से उसे समझा नहीं जा सकता। इसके साथ उसके उद्देश्य का ज्ञान भी आवश्यक है।

अतएव विज्ञान क्रियात्मक दृष्टि से इतना हितकर होता हुआ भी केवल एक पक्षीय और सीमित दृष्टि रखता है। वह जगत के सम्बन्ध में 'किस प्रकार' के प्रश्न का ही उत्तर देना चाहता है परन्तु वह कभी पूर्णतः कृतकार्य नहीं हो सकता। उसे जगत् के सम्बन्ध में "क्यों" का उत्तर देने की भावना ही नहीं होती। यह प्रश्न उसके अनुसन्धान क्षेत्र से बाहर है।

पदार्थों की व्याख्या उनके उद्देश्यों से ही की जा सकती है किन्तु विज्ञान केवल कारणों की सीमा बद्ध दृष्टि रखने के कारण पदार्थों की व्याख्या करने की योग्यता ही नहीं रखता।

---

८. मूल्य जगत् (परा प्रकृति)

विज्ञान की जानकारी अपरा प्रकृति तक ही सीमित है। किन्तु प्रत्येक पदार्थ में (उसे जानने या सोचने वाला) पुरुष, उसका उद्देश्य (परा प्रकृति) और उपकरण (अपरा प्रकृति) विद्यमान होते हैं। अतएव विज्ञान किसी पदार्थ को उसकी समग्रता में देख नहीं पाता।

कोई भी चिन्ताशील व्यक्ति उद्देश्य की विद्यमानता का निषेध नहीं कर सकता। जीवन-क्रियाएं सदा ही कोई न कोई उद्देश्य रखती हैं जो येनकेन प्रकारेण उनके भीतर पहले से ही विद्यमान होता है। जब कि किसी क्रिया के कारण अतीत में पाए जाते हैं उसके मानसिक कारण भविष्य में मिलते हैं। उदाहरणतः एञ्जिन निर्माण करते हुए हम उसका उपकरण अतीत से लेते हुए उसका उद्देश्य भविष्य में देखा करते हैं। यद्यपि विज्ञान अब तक अन्तिम कारणों का पता नहीं लगा सका और सम्भवतः कभी नहीं लगा सकेगा, किन्तु इस पर भी हम अन्तिम उद्देश्यों को निश्चित रूप से जान सकते और जानते हैं और वे चार हैं :—

सचाई, भलाई, सुन्दरता व प्रसन्नता।

मनुष्य इन से परे जाने का ख्याल भी नहीं कर सकता। इन्हें ही चरम मूल्य कहा जाता है। मनुष्य इन्हीं में गम्भीर से

गम्भीर शान्ति प्राप्त करता है। विज्ञान तथा दर्शन में लोग सत्य का अनुसन्धान करने में अपना जीवन अर्पण करते हुए भलाई के निमित्त हर दुःख व कष्ट सहने के लिए तैयार हो जाते हैं। सौन्दर्य पर मुग्ध होकर अपने प्राण तक न्योछावर कर देते हैं। हम सभी ऐसा आनन्द चाहते हैं जिसे पा कर हमारी दौड़ धूप समाप्त हो जाती है। मनुष्य आरम्भ से ही इन मूल्यों की खोज में रहा है। विज्ञान, दर्शन, धर्म, नीति और कला इसी खोज के फल हैं।

हम सभी सुन्दर छवि की ओर आकृष्ट हुआ करते हैं। और भलाई का सम्मान किए बिना रह नहीं सकते। विज्ञान स्वयं सचाई की खोज है, किन्तु इस पर भी मूल्यों की चरम सत्ता को नहीं मानता। इसका स्पष्ट कारण यह है कि विज्ञान पदार्थों के परिमेय पक्ष को ही जानता है। वह पुष्प के अवयवों तथा गुरुत्व का पता तो दे सकता है किन्तु उसके चित्ताकर्षक सौन्दर्य को जानता ही नहीं। केवल इसलिए कि सौन्दर्य माप की वस्तु नहीं है। इसी प्रकार वह राग का विश्लेषण तो कर सकता है किन्तु उसके आन्तरिक मर्म से अनभिज्ञ रहता है। विज्ञान कभी नहीं बतला सकता कि अमुक चित्र क्यों सुन्दर और आनन्दप्रद प्रतीत होता है। यह काव्य को जानता ही नहीं।

इसके अतिरिक्त विज्ञान साधारण गुणों पर दृष्टि रखता हुआ पदार्थों को श्रेणीबद्ध करके भविष्य-वाणी तो कर सकता है, किन्तु वह किसी वस्तु की अद्वितीयता को नहीं जानता। इसके विरुद्ध कला पदार्थों की साधारणता तथा समानता के स्थान पर उनकी विशेषता तथा अद्वितीयता पर दृष्टि रखती है। प्रत्येक वस्तु किसी न किसी दृष्टि से अद्वितीय होती है। परन्तु विज्ञान का इस अद्वितीयता की अवहेलना करने का स्वभाव है। और यह मनुष्य को भी एक प्रकार का पशु ही समझता हुआ इसकी भलाई बुराई को नहीं जानता।

यही कारण है कि विज्ञान की दृष्टि में कला और नीति निरर्थक भ्रमों के सिवा कुछ नहीं हैं।

सब दर्शनों का सरताज वेदान्त भी उस दिन से जीवन खो कर मृतप्राय हो गया है जब से वह बौद्धिक स्तर पर नीचे उतर कर केवल समानता को ही सत्य की कसौटी बतलाने लगा है। इस के विरुद्ध यदि भक्ति अथवा प्रेम मार्ग में कोई जीवनप्रद प्रभाव पाया जाता है तो उसका रहस्य यही है कि उसकी दृष्टि सदा अद्वितीयता पर रहती है। वेदान्त और विज्ञान की दृष्टि में कोई वस्तु भी वस्तुतः विशेष महत्व नहीं रख सकती। इसके विरुद्ध प्रेम की दृष्टि में प्रियतम अपनी अद्वितीयता रखता है। विज्ञान केवल खण्ड खण्ड करना चाहता है। किन्तु कला को समग्रता प्रिय है। यदि किसी छवि का कोई एक खण्ड नष्ट हो जाए तो वह विज्ञान दृष्टि से नाश होने के स्थान पर केवल घट जाएगी; किन्तु कला की दृष्टि में वह अपनी समग्रता को खोते ही पूर्णतया नष्ट हो जाएगी।

कल अपने पुर्ज़ों के समुदाय के बराबर हुआ करती है किन्तु सजीव वस्तु अपने अवयवों के समुदाय से बृहत्तर होती है, क्योंकि उसके अवयवों तथा पहलुओं में जान डालने वाली वस्तु ही उसका वास्तव समग्र होती है जिसे विज्ञान जानता ही नहीं। व्यक्ति की परिभाषा यों की गई है कि यह वह समग्र है जो अपने अवयवों का एकीकरण और उन्हें अन्तर्निविष्ट करता हुआ उनके समुदाय से सर्वदा ऊपर रहता है। जब हम अपने मित्र से स्नेह करते हैं तो हमें उसके व्यक्तित्व से ही प्यार हुआ करता है। स्पष्टतः मनुष्य अपने अवयवों या पहलुओं का समुदायमात्र नहीं है, किन्तु विज्ञान इस सत्य को देख नहीं सकता। वह अपनी खोज में मौलिक तत्वों (मूल्यों) की व्याख्या व मन को छोड़ जाता है। इसलिए किसी ज्योतिर्विद से यह आशा ही नहीं हो सकती कि वह आत्मा, ब्रह्म

(आध्यात्मिक तत्वों) के सम्बन्ध में कुछ बतला सके। और न ही पदार्थ वैज्ञानिकों से चित्रों के सौन्दर्य के सम्बन्ध में कुछ पूछा जा सकता है। सच तो यह है कि विज्ञान से जगत् और जीवन के अर्थ पूछना ऐसी ही फिजूल बात है जैसा कि सन्देश का अर्थ समझने में असफल होकर उसके अक्षरों की मसी व कागद के रासायनिक विश्लेषण में लग जाना। पदार्थों के सार तत्व को उन के आरम्भ के स्थान पर उनकी परिणति और वृक्ष के वास्तविक रूप की बजाए उसकी आगामी फलों से ही जाना जा सकता है। अणुवीक्षण या टेस्ट ट्यूब इस भेद को खोल नहीं सकते।

मनुष्य विज्ञान द्वारा नहीं, बल्कि आध्यात्मिक इन्द्रियों द्वारा स्पष्टतः देखता और अनुभव करता है कि संसार में कतिपय पदार्थ वस्तुतः भले या बुरे, सुन्दर या कुरूप हैं। और भलाई का अनुकरण, कदर्यता की उपेक्षा व सौन्दर्य को उपादेय मानना तथा किसी उच्चतर उद्देश्य के लिए जीना हमारा कर्तव्य है।

---

६. मूल्य--वास्तविक, बाह्य तथा चरम सत्ताएँ हैं।

(क)

मूल्य (सचाई, भलाई, सुन्दरता) द्रष्टव्य तथा परिमेय नहीं हैं। इन्हें केवल सहजानुभव द्वारा ही जाना जा सकता है। जिस व्यक्ति में सहज ज्ञान का अभाव हो उसे इनके अस्तित्व का निश्चय दिलाना कठिन है। वह तो इन्हें केवल मानसिक रचनाएं कह कर टाल देगा। और जो व्यक्ति सहज-अनुभूति-सम्पन्न है

वह इन्हें साक्षात् देखता हुआ इनके अस्तित्व में तनिक सन्देह न रखेगा।

इन मूल्यों के पक्ष में सबसे बड़ा प्रमाण विश्व व्यापी मतैक्य है। साधारणतया सभी लोग सचाई, भलाई व सुन्दरता को वास्तविक जानते हैं। यद्यपि इनके सम्बन्ध में उनकी धारणाओं तथा आदर्शों में कितना ही मतभेद क्यों न पाया जाए। इन मानवी मूल्यों की नित्यता की अपेक्षा विज्ञान के तथ्यों को मरुभूमि में बर्फ के टुकड़ों की उपमा दी गई है। इन मूल्यों का ज्ञान विज्ञान के आविर्भाव के युगों पहले से विद्यमान था और इसके पश्चात् भी रहेगा।

चूँकि आधुनिक सभ्यता का विशेष गुण विज्ञान है इसने मूल्यों के सम्बन्ध में हमारे दृष्टिकोण को बहुत प्रभावित किया है। विज्ञान तो केवल उसी पदार्थ को ही वास्तविक जानता और मानता है जो बाह्येन्द्रियों का विषय हो सकता है। किन्तु मूल्यों को तो देखा, सुना, चखा, छूआ और सूँघा नहीं जा सकता। इसीलिए ही वैज्ञानिक लोग मूल्यों को अवास्तविक तथा काल्पनिक बतलाया करते हैं। इनके मतानुसार मूल्य केवल आन्तरिक सत्ता रखते हैं, बाह्य नहीं।

किसी वस्तु के आन्तरिक या बाह्य होने का निर्णय करने का यह अर्थ है कि निर्णायक का अपना मन एक प्रकार से प्रभावित हो रहा है अथवा निर्णायक के मन से बाहर का जगत् किसी विशेष गुण से गुणान्वित है। उदाहरणतः जब एक ही समय व एक ही कमरे में दो व्यक्ति शीत तथा उष्ण अनुभव कर रहे हों तो हम उनके निर्णय को आन्तरिक कहेंगे। किन्तु तापमान-यन्त्र एक ही तापमान बतलाने का बाह्य निर्णय करेगा। किसी फल या तरकारी को खाते समय कोई तो इसे प्रिय और कोई अप्रिय

अनुभव करेगा। किन्तु $3+2=5$ और $7 \times 7=49$ सब के लिए एक सा बाह्य निर्णय है।

जड़वादी कहते हैं कि शीतोष्ण के अनुभव और रसास्वादन के समान मूल्य भी हमारे आन्तरिक निर्णय हुआ करते हैं। हमारे मन से बाहर सचाई, भलाई व सुन्दरता का कोई अस्तित्व नहीं है। इस भौतिक दृष्टिकोण ने नीति और धर्म दोनों को कुठाराघात पहुँचाया है।

धर्म के विषय में भौतिक विज्ञान यह कहता है कि आदिम मनुष्य अपने को एक अज्ञेय जगत् में अपने इर्दगिर्द की उन महान् तथा भयानक शक्तियों का दया पात्र पाता था जो न उसकी समझ में आती थीं और न उसके वश में थीं। वह अग्नि, बाढ़, भूकम्प, आँधी, अकाल, व्याधि, महामारी व सूर्य के प्रचण्ड ताप के सामने अपनी विवशता अनुभव करता हुआ ऐसे देवताओं का अस्तित्व कल्पना करने का आदी था जो इन दुर्दम्य शक्तियों के स्वामी माने जाते थे। इन देवताओं में से वह किसी को इष्टकर व किसी को अनिष्टकर मानता हुआ इन्हें प्रसन्न तथा इनके क्रोध को शांत करने के लिए चाटूक्ति, गुणगान, उपहारों व बलिदानों से काम लेता था। ये देवी-देवता स्पष्टतः केवल आन्तरिक सत्ता ही रखते थे। और यही बात देवों के देव (ईश्वर) पर भी लागू होती है, क्योंकि वह भी कोई बाह्य सत्ता नहीं रखता। मनुष्य अपनी शक्तिहीनता के अनुभव या भय से एक ऐसा ईश्वर रच लेता है जो मनुष्य का अपना ही बढ़ा चढ़ा रूप होने से उसकी चाटूक्तियों व रिश्वतों से खुश हो सकता है। जब मनुष्य विश्व जगत् की अपरिमेय विशालता और निर्जीवता देख कर डरता हुआ इस विश्वास से अपने मन को प्रसन्न करना चाहता है कि भौतिक जगत् प्रतीति मात्र होने से अपनी कोई सत्ता ही नहीं

रखता और इस के पीछे अपने समान किन्तु अपने से अत्यन्त बृहत्तर सत्ता कल्पना कर लेता है। इसी प्रकार ही मनुष्य ने अपने मनोरञ्जन तथा सान्त्वना के लिए संसार रूपी कैन्वेस पर मूल्यों (सचाई, भलाई व सुन्दरता) के चित्र कल्पना करके इन्हें व्यक्तित्व दे दिया है। विज्ञान की दृष्टि में यह मूल्य भी अपने आप में कोई सत्ता नहीं रखते। हम इन बड़े बड़े शब्दों से अपने मन को प्रसन्न करना और अपनी वासनाओं को गौरवान्वित करना चाहते हैं। हमने अपने हित के लिए ये सारी बातें घड़ रखी हैं। भलाई और बुराई के निर्णय भी आरम्भ में उपादेयता पर ही आधारित थे। किन्तु अब वह हमारे मानसिक अभ्यास हो गए हैं। इसी प्रकार विज्ञान कहता है कि सौन्दर्य व असौन्दर्य हमारे आन्तरिक प्रसन्नता व अप्रसन्नता ही को व्यक्त करते हुए हमारे मन से बाहर कोई सत्ता नहीं रखते। नेकी और सुन्दरता जो पहले उपादेयता तथा रस के प्रतीक थे अब अभ्यासवश हमारे उद्देश्य बन गए हैं।

(ख)

जड़वादी लोगों का यह दृष्टिकोण कि सचाई, भलाई व सुन्दरता आन्तरिक सत्ता रखने के कारण अवास्तविक हैं प्रस्तुत कर चुकने पर अब हम यह दिखलाने का प्रयत्न करेंगे कि ये मूल्य बाह्य सत्ता रखते हैं।

१—"सचाई सदा तथ्य के साथ अनुकूलता रखती है।" यदि यह वक्तव्य सच्चा है तो इसकी सचाई सदा ही सचाई है, चाहे इसे व्यक्त किया जाए या न किया जाए। यदि इस सचाई को कोई व्यक्ति भी न जाने तो भी इसमें कोई अन्तर न आएगा। उदाहरणतः यदि रेलगाड़ी आठ बजे जाती हो तो यह सचाई किसी के मन के ज्ञान पर निर्भर न होगी। इसी प्रकार वे सृष्टि

नियम जो अब विज्ञान द्वारा आविष्कृत हो रहे हैं, अपने आविष्कार से पहले भी पदार्थों के स्वभाव में सक्रिय रूप में सर्वदा विद्यमान चले आए हैं। अतएव इन नियमों की सचाई आन्तरिक न होकर बाह्य है। अर्थात् व्यक्तिगत मन की रचना नहीं है।

यह दावा कि सभी सचाइयाँ आन्तरिक होती हैं स्वयं भी आन्तरिक होने के कारण सचाई का स्वरूप नहीं बतला सकता। और यह कहना कि सचाई केवल काल्पनिक सत्ता रखती है स्वयं काल्पनिक होने के कारण अपना आप खण्डन करता है। और यह कथन कि कोई सचाई है ही नहीं स्वयं ही सचाई रहित सिद्ध होता है।

क्या जब तापमान यन्त्र अस्तित्व में नहीं आया था तब कमरे कोई तापमान न रखते थे ? या जब धातुओं के विशेष गुरुत्व का भेद न खुला था तो क्या यह नियम वस्तुतः क्रियाशील न था ?

२—भलाई के सम्बन्ध में आन्तरिक दृष्टिकोण यह है कि मैं ही उस वस्तु को भली या उचित ख्याल करता हूँ जो मेरे लिए या मेरे साथ सम्बद्ध श्रेणी के लिए हितकर, सुखद, या सुरक्षा का साधन हो। इस दृष्टिकोण के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि विभिन्न युगों और देशों में विभिन्न कृत्यों को उचित और विभिन्न गुणों को नैतिक समझा गया है।

किन्तु यह तर्क तो केवल इतना ही सिद्ध करता है कि विभिन्न परिस्थितियां लोगों के दृष्टिकोणों को निर्धारित करती हैं। किन्तु इससे यह बात तो सिद्ध नहीं हो जाती कि स्वयं भलाई व नीति की धारणाएँ भी परिस्थितियों से उत्पन्न होती हैं।

यदि भलाई और प्रियता, औचित्य तथा उपादेयता एक ही बात हों तब हम क्यों कहते हैं कि मैं इस कार्य को इसलिए करना

चाहता हूँ कि यह मुझे प्रिय प्रतीत होता है किन्तु मैं सम्भवतः उस काम को करूँगा क्योंकि वह उचित है। या 'क' बड़ा प्रिय साथी तो है किन्तु 'ख' के समान भला नहीं है। इस से प्रतीत होता है कि भला तथा उचित एक वस्तु नहीं हैं। हम अपने दैनिक जीवन में अपनी प्रकृति के अनुसार बहुधा हितकर को भले पर और भले को हितकर पर प्राधान्य दिया करते हैं। और इतिहास भी उन्हीं लोगों में मानव गौरव देखता है जिन्होंने हितकर की अपेक्षा भले को वरण किया था।

३—यदि सौन्दर्य केवल आन्तरिक सत्ता रखता हो तो कला कोई मानदण्ड न रखेगी। साधारण लोग तो गंवार चित्रों को पसन्द करते हुए चित्रकारी की अति उत्कृष्ट रचनाओं में कोई सौन्दर्य देख नहीं पाते। ढोल नगारों पर मस्त होने वाले लोग शास्त्रीय संगीत में कोई गुण ही नहीं पाते। या भद्दे काव्य पर लट्टू होने वाले लोग भगवद्गीता व तुलसी रामायण में कोई अभिरुचि नहीं रखते। यदि सौन्दर्य कोई बाह्य मानदण्ड न रखता हो तब तो समस्त कला व्यर्थ सिद्ध होगी।

पदार्थों का सौन्दर्य उन पदार्थों के अन्दर ही विद्यमान होने से हमारी कल्पना की छाया नहीं होता। क्या गंदगी के ढेर और फूलों की क्यारियों, एक मृत्त और सड़ी गली लाश तथा अति सुन्दर हँसते हुए मुख में कोई बाह्य और वास्तविक भेद नहीं पाया जाता ? सुसंस्कृत रुचि बाह्य सौन्दर्य को देखने और पहचानने की योग्यता प्रगट करती है। हम सौन्दर्य और सौन्दर्य के लिए रुचि को इसी प्रकार एक वस्तु नहीं कह सकते जिस प्रकार वर्ग तथा वर्ग के भाव को एक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि पदार्थों के रूप स्वयं पदार्थों से सम्बद्ध होते हैं हमारे भावों से नहीं। इसी प्रकार उन पदार्थों के वर्ण और हमारे भाव एक ही वस्तु नहीं हैं। फूल और काँटे, संगीत

और रौरव के मध्य केवल भावुक भेद ही नहीं होता। हां, यह बात ठीक है कि हम अपने अन्तःकरण द्वारा ही पदार्थों के गुणों को जाना करते हैं।

जड़वादी विज्ञान के समान विकृत व एकपक्षीय वेदान्त की भी बड़ी भूल यही है कि वह बाह्य तथ्थों का निषेध करता हुआ समस्त जगत को अपना ही मनोकल्पित स्वप्न कह कर उड़ाना चाहता है। और यही कारण है कि भौतिक विज्ञान के समान मायावादी वेदान्त ने भी कला और नीति पर वैसा ही कुठाराघात किया है।

(ग)

जबकि हम स्पष्टतया देख चुके हैं कि मूल्य वास्तविक व बाह्य सत्ता रखते हुए केवल अपनी प्रत्यभिज्ञा के लिए तो व्यक्तिगत मनों पर निर्भर करते हैं किन्तु अपने अस्तित्व के लिए कभी नहीं, अब इन के सम्बन्ध में यह देखना शेष रह गया है कि यह सत्ताएँ चरम सत्ताएँ हैं अर्थात वह केवल स्वाभिलाषित ही होती हैं। अपने से परे किसी अन्य वस्तु की खातिर नहीं। इन के अतिरिक्त संसार में साधनीभूत मूल्य भी जो अन्य वस्तुओं की खातिर अभिलाषित होते हैं, अस्तित्व रखते हैं।

एक उदाहरण लीजिए। जब कुनीन के प्रयोग के सम्बन्ध में 'क्यों' का प्रश्न उठता है तो यह उत्तर दिया जाता है कि मलेरिया की निवृत्ति और स्वास्थ्य प्राप्ति के लिए इसका सेवन किया जा रहा है। और जब यही प्रश्न स्वास्थ्य के विषय में उठाया जाता है कि स्वास्थ्य की अभिलाषा क्यों, तो इसका उत्तर मिलता है कि खुशी (प्रसन्नता) के लिए। किन्तु प्रसन्नता के विषय में कोई बुद्धिमान व्यक्ति 'क्यों' का प्रश्न नहीं उठाएगा। कारण यह कि प्रसन्नता (खुशी) एक साधनीभूत मूल्य के स्थान पर एक

अन्तिम मूल्य है। और अपने से परे या इतर किसी अन्य वस्तु तथा मूल्य की प्राप्ति का साधन नहीं है।

जब हम किसी वस्तु के अभिलाषी होते हैं तो उस अभिलाषा में यह बात उपलक्षित होती है कि हम किसी न किसी एक अन्तिम मूल्य को चाहते हैं जो स्वयं-अभिलाषित है। उदाहरणतः कोई व्यक्ति बस को इस लिए पकड़ना चाहता कि वह ट्रेन को पकड़ सके और ट्रेन को इसलिए पकड़ सके कि वह अपने काम में सफल हो कर रुपया कमा सके। और वह रुपया इसलिए कमाता है कि जी सके। और जीना इसलिए चाहता है कि जीना उसे प्रसन्नता देता है। इसी तरह जब कोई विद्यार्थी लिखना पढ़ना छोड़ कर टैनिस खेलने लगता है वह भी खुशी के लिए ऐसा करता है।

खुशी की भांति सचाई, भलाई तथा सुन्दरता भी अन्तिम मूल्य हैं। परन्तु इन की उत्तमता इस बात में है कि इन मूल्यों के अवैयक्तिक होने के कारण इन से प्राप्त होने वाली प्रसन्नता में दूसरे लोग भी भाग ले सकते हैं।

ये अन्तिम मूल्य आकाश के उन उच्च तारों के समान हैं जो अपनी अपरिमेय दूरी के कारण हमारे साथ साथ चलते प्रतीत होते हैं। और सदा हमारे सिरों के ऊपर चमका करते हैं। जब कि साधनीभूत मूल्य पार्थिव दीपकों की भांति हैं। ये अन्तिम मूल्य ही मानव जीवन के चरम लक्ष्य हैं। सभी पदार्थों सभी कार्यों और सभी भावों और अभिलाषाओं में हम इन्हें ही ढूँढ़ा करते हैं। क्योंकि पृथ्वी तथा आकाश के मध्य इनके सिवा और कोई वस्तु भी स्वाभिलाषित नहीं है। यहां तक कि ईश्वर जिसे लोग अपने जीवन का परम लक्ष्य तथा परम गति मानते हैं वह भी इन्हीं मूल्यों से ही आदर व सम्मान प्राप्त करता है।

मूल्य अपना महत्व और औचित्य अपने अन्दर ही रखते हैं। सचाई अपना ईश्वर स्वयं है। सचाई से परे या उच्चतर कोई देव नहीं। देव को अपने मान व बड़ाई के लिए सचाई अपेक्षित है। किन्तु सचाई, भलाई तथा सुन्दरता आदि मूल्य स्वतः पर्याप्त होने से अपने से परे या इतर देव की भी अपेक्षा नहीं रखते। वस्तुतः मनुष्य ने ही इन मूल्यों को व्यक्तित्व प्रदान कर इन्हें अपना लक्ष्य तथा परम इष्टदेव बना लिया है।

१—सचाई के अन्तिम मूल्य होने का प्रमाण यह है कि सभी लोग स्वभावतः सचाई चाहते हैं। और अन्य स्थिति समान होने पर हम सचाई को झूठ पर प्राधान्य देते हैं। और यदि कोई विशेष कारण न हो तब लोग स्वभावतः सच ही बोला करते हैं। हाँ, जब वह कोई विशेष स्वार्थ रखते हैं तभी वह झूठ बोलते हैं अन्यथा नहीं। इसीलिए कहा गया है "झूठ सदा ही एक साधन होता है, किन्तु सचाई स्वयं अभिलाषित हुआ करती है।" हम किसी हित-साधन या किसी की दुःख निवृत्ति के लिए कई बार धोखा देते व झूठ बोला करते हैं। किन्तु सचाई सदा सचाई के लिए ही कही जाती है।

साहित्यिक, दार्शनिक, गणितज्ञ तथा वैज्ञानिक लोग केवल सचाई के लिए अनेक कष्ट सहन करते हुए परिश्रम का जीवन व्यतीत करते हैं। इन में धन, मान मर्य्यादा प्राप्त करने की अभिलाषा प्रबल नहीं हुआ करती। वह केवल इतना ही चाहते हैं कि जो कुछ विद्यमान है उस के वास्तव स्वभाव या तत्व को जाना जाए और जब कोई नवीन सत्य आविष्कृत होता है तो हम स्वभावतः इसे स्वीकार करने को और प्रवृत होत हैं बशर्ते कि हमारे और सत्य के मध्य स्वार्थमूलक अभिलाषाएँ न हों। जब हम $7 \times 7 = 49$ या इस कथन को कि सूर्य पृथ्वी के गिर्द घूमती है स्वीकार करते हैं तो केवल सचाई के लिए

ही ऐसा करते हैं। राजनीति में भी लोग अन्ततः सचाई की ओर ही लौटा करते हैं। यद्यपि वह आरम्भ में सचाई के समर्थकों को अनेक प्रकार के कष्ट देते हुए कभी कभी उन्हें जान से भी मार डालते हैं। अन्ततः सत्य की ही जय होती है। झूठ अथवा स्वार्थ की नहीं। और संसार में अन्ततः सच्चे विचार ही विजयी होते हैं। तथा सत्य में विश्वास रखने वाले लोग कारावास, निर्यातन व मृत्यु की तनिक पर्वा नहीं रखते। ऐसे लोग अपने जीवन से सचाई के अन्तिम मूल्य का साक्ष्य दे कर शहीद कहलाते हैं। एच० जी० वेल्स ने सत्य कहा है:—

"परिष्कृत और विशुद्ध विचार मानव जीवन का सर्वोत्कृष्ट गुण है। इसकी अम्लात्मक शक्ति समस्त प्रचलित पाशविक प्रवृत्तियों, हीलों और बहानों को घुलाती और हर प्रकार की झूठी भक्ति और निस्सार मतों को निर्जीव करती हुई अन्ततः ज्योति तथा सत्य के जगत का मार्ग निकाल कर ही रहेगी।"

२—भलाई का एक अन्तिम मूल्य होना यों सिद्ध होता है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वभावतः उसी वस्तु का अनुकरण किया करता है जिसे वह नेक समझता है। और जब वह बुराई करता है तो वह भी बुराई के लिए कभी नहीं बल्कि उन मिथ्या धारणाओं के अधीन, जो बुराई को भलाई दिखलाती हैं। दूसरे शब्दों में बुराई करते समय इच्छा शक्ति के स्थान पर हमारी निर्णायक शक्ति की भूल हुआ करती है। स्वेच्छा से कोई व्यक्ति भी बुराई का अनुकरण नहीं चाहता। और जब हम सुख धन तथा भावुक अथवा ऐन्द्रिय सान्त्वना का पीछा करते हैं तो केवल इसलिए कि तत्काल हम इन वस्तुओं को नेक निश्चय करते हैं। और हमारी दृष्टि अस्थायी रूप से तत्व के वास्तव स्वरूप की ओर से अन्धी हो जाती है।

इसलिए यह कहना ठीक है कि बुराई एक प्रकार की भूल और भलाई एक प्रकार का ज्ञान है।

भीरु व साहसी मनुष्य में केवल इतना ही अन्तर हुआ करता है कि भीरु मनुष्य कुख्याति व सामाजिक लज्जा के कारण कई बातों से डरा करता है। और साहसी मनुष्य भली भांति जानता है कि वास्तव में कौन सी वस्तु डराती है। वह हीनता तथा दासता को मृत्यु से भी बढ़कर बुरा जानता है। भीरु तथा साहसी दोनों ही डर से बचना चाहते हैं किन्तु साहसी पुरुष जानता है कि डर की वस्तु क्या है जिसे भीरु पुरुष नहीं जानता। अतएव उनके मध्य इच्छा का नहीं, ज्ञान का अन्तर होता है। परिमिताचारी पुरुष भली भांति जानता है कि रस्सी को कहां तक ढीला छोड़ना उचित है जब कि अपरिमिताचारी पुरुष यह ज्ञान नहीं रखता।

यद्यपि यह भी देखने में आता है कि हम भलाई को जानते हुए भी इच्छा की दुर्बलता के कारण उसका अनुकरण नहीं कर सकते, किन्तु इस से भलाई के एक चरम मूल्य होने में फर्क नहीं आ सकता। और दूसरी बातों के समान होने पर हम सभी सरलता व सत्यता को असरलता व असत्यता पर प्राधान्य दे कर सच बोला करते हैं, जब तक झूठ बोलने का कोइ विशेष कारण विद्यमान न हो।

३—हम सब के सब सुन्दर को चाहते और असुन्दर से परे हटते हैं और जो लोग सौन्दर्यानुभूति की अलौकिक क्षमता रखते हैं वे तो इस के लिए भूखों मर जाने की भी पर्वाह नहीं करते। प्रायः कलाकार आजीवन भूख के मारे सूखते हुए भी सौन्दर्य रचना में मग्न रह कर अपने लिए स्वास्थ्य, धन, सुख और विलास का ख्याल ही नहीं रखते। यही दशा संगीतज्ञों की देखी जाती है।

जब हम सौन्दर्य चाहते हैं तो केवल सौन्दर्य के लिए ही। सुख

संवेदना के स्थान पर स्वयं सौन्दर्य को प्राधान्य देते हैं। और इसका अनुभव करते समय हमें अपनी पृथक् सत्ता विस्मृत हो जाती है।

---

१०. सन्तुलित व्यक्तित्व

हम देख चुके हैं कि मनुष्य दैहिक इन्द्रियों के अतिरिक्त आध्यात्मिक इन्द्रियाँ भी रखता है। शारीरिक इन्द्रियों द्वारा शारीरिक जगत् से सम्बन्ध स्थापित करता हुआ और उस पर अपना प्रभाव डालता हुआ स्वयं उस से प्रभावित होता है। शारीरिक इन्द्रियों द्वारा ही वह शारीरिक जगत् से अपनी शारीरिक आवश्यकताएँ यथा अन्न, जल, वायु, ताप आदि प्राप्त करता है। और उसके शारीरिक कल्याण के लिए आवश्यक है कि उसकी बाह्येन्द्रियाँ सुसंगत रूप से समुन्नत हुई हों। ऐसा न हो कि चक्षु-इन्द्रिय तो समुन्नत हो और श्रवणेन्द्रिय दुर्बल या अविद्यमान हो। शारीरिक जीवन व स्वास्थ्य के लिए सभी शारीरिक इन्द्रियों की समानुपातिक उन्नति आवश्यक है।

इसी तरह आध्यात्मिक इन्द्रियाँ भी मनुष्य पर अभी और यहीं एक अभौतिक, अदृश्य, अस्पृश्य, भारहीन, अतुलनीय व अपरिमेय, अदेश तथा अकाल, अविनश्वर व असीम, आध्यात्यिक जगत उद्घाटित करती हैं। वह अपनी बौद्धिक इन्द्रियों द्वारा सत्य के असीम जगत् को देख पाता है। नैतिक इन्द्रियों द्वारा वह भलाई के अपार जगत् का अनुभव करता है और सौंदर्य बुद्धि द्वारा अपने को सौन्दर्य जगत् में देख पाता है। और इन्हीं आध्यात्मिक इन्द्रियों द्वारा ही मनुष्य इतर प्राणियों पर विशेषत्व रखता है। शरीर तथा शारीरिक आवश्यकताओं व सुखों की दृष्टि से पशु और मनुष्य में केवल दर्जे का ही अन्तर है प्रकार का नहीं। दोनों ही जीते हैं किन्तु मनुष्य की आध्यात्मिक इन्द्रियाँ उसे सत्ता का

एक और ही स्तर दिखलाती हैं जिसकी दिशा ही सब पदार्थों से विलक्षण और जिसमें देशगत तथा कालगत सीमाओं का प्रवेश ही नहीं है।

मनुष्य दो बार जन्म लेता है। पहले तो वह माता से जन्म लेकर शारीरिक जीवन व शारीरिक इन्द्रियाँ प्राप्त करता है। और दूसरा (आध्यात्मिक) जन्म होने पर अभी और यहीं आध्यात्मिक जगत् में प्रविष्ट होता हुआ वह अलौकिक जीवन तथा आनन्द प्राप्त करता है जो और किसी भी पार्थिव जीव के हिस्से में नहीं आया। इस अदृश्य, अदेश तथा अकाल जगत् से आध्यात्मिक भोजन पाकर ऐसा शाश्वत सुख प्राप्त करता है जिसके सामने त्रिलोकी भर के सुख तुच्छ हैं। और इस आध्यात्मिक जगत् में जागृत होकर वह ऐसे जीवन को लाभ करता है जिसके लिए ह्रास व नाश नहीं हैं।

शारीरिक जीवन की भांति आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता व स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है कि हमारी इन्द्रियाँ समानुपातिक रूप से समुन्नत हों। किन्तु अभी तक संसार में माने हुए महापुरुषों में भी विरल ही यह सन्तुलन देखा जाता है। वैज्ञानिक तथा दार्शनिक लोग सत्य के लिए तो समुन्नत इन्द्रियाँ रखते हैं, किन्तु साधारणतः उनमें भलाई और सौन्दर्य की इन्द्रियाँ पूर्णतया विकसित नहीं होतीं। और भलाई व नीति के प्रतिनिधियों में सचाई व सौन्दर्य की इन्द्रियों का समानुपातिक विकास नहीं होता। और सौन्दर्य के पुजारी तो बहुधा सचाई और भलाई की बहुत कम पर्वाह रखते हैं। कुछ लोगों में इन में से दो इन्द्रियाँ समुन्नत होने पर तीसरी इन्द्रिय सुप्त रहती है।

समानुपात की यह त्रुटि केवल व्यक्ति में ही नहीं जातियों में भी देखी गई है। भारतवासी प्राचीन काल से प्रायः सत्य (सत्यम्)

के पुजारी चले आते हैं। यहूदियों में भलाई (शिवम्) पर विशेष बल दिया गया है। और प्राचीन यूनान में सौन्दर्य (सुन्दरम्) पर बहुत ज़ोर दिया जाता था।

किन्तु व्यक्तिगत या सामूहिक जीवन की पूर्णता तथा स्वास्थ्य का रहस्य इसी में है कि यह आध्यात्मिक इन्द्रियाँ समानुपातिक रूप से उन्नत हों। दूसरे पहलुओं की अवहेलना करते हुए केवल एक पहलू पर सीमाधिक झुकाव व्यक्तित्व में फूट व विदारण उत्पन्न करता हुआ पूर्ण व स्वस्थ जीवन से दूर रखता है।

वर्तमान युग में कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर सन्तुलित व्यक्तित्व के ज्वलन्त उदाहरण हुए हैं। वह केवल कलाकार ही न थे; अपितु सत्य के भी जिज्ञासु तथा शिक्षक और भलाई के समर्थक तथा सेवक थे। वह मानवता का वह पुष्प थे जिसकी सब पँखड़ियां समानुपातिक रीति से पूर्णतः विकसित थीं। और जीवन की सच्ची तथा पूरी खुशी का रहस्य समानुपातिक उन्नति के सिवा और कहां ?

इन आध्यात्मिक इन्द्रियों द्वारा हम उस अदृश्य आध्यात्मिक जगत् के साथ जीवन्त सम्बन्ध स्थापित कर पाते हैं जो अब और यहीं विद्यमान है। यह आध्यात्मिक (मूल्य) जगत् ही भौतिक जगत् का सार तत्व एवं आधार है। इसे ईश्वर या ब्रह्म का नाम भी दिया जा सकता है। इस अपरिमित अभौतिक अदृश्य तथा अविनश्वर जगत् के सम्बन्ध में जीना ही यथार्थ मानव जीवन है। यदि इस अपरिमेय जगत् की ओर हमारी अन्तरेन्द्रियाँ जागृत न हों और हमारे हृदय में सचाई भलाई व सुन्दरता के लिए व्याकुल करने वाली भूख न पाई जाए तो हम मानवीय दृष्टि से जीते ही नहीं। हम तो एक आध्यात्मिक सत्ता हैं। जिस तरह हमारे शरीर अपने इर्द-गिर्द के प्रकाण्ड शारीरिक जगत् के सम्बन्ध में ही जी सकते हैं

इसी प्रकार हम आध्यात्मिक जगत् की ओर जागरूक हो कर इसके साथ निरन्तर सम्बन्ध में ही मानवोचित जीवन व्यतीत कर सकते हैंदूसरे शब्दों में यह कहना चाहिए कि हमारे जीवन की विशेषता पशुओं के ससान अनुभव करने में नहीं बल्कि अनुभव का अर्थ समझने में है।

---

११. हमारा कर्त्तव्य

(क)

जीवन में सबसे बड़ा क्रियात्मक प्रश्न यही है कि हम यहां किस लिए हैं ? धर्म के ठेकेदार लोग प्रायः इस प्रश्न का यही उत्तर देते हैं कि हम यहां परलोक की तैयारी के लिए हैं। यह भूलोक हमारे लिए परदेश और हमारा पार्थिव जीवन एक प्रकार का निर्वासन है। हम जहां से प्रेषित हुए हैं वही हमारा स्वदेश अथवा निजघर है। मरणोपरान्त हमें उसी की ओर लौटना होगा। यहां तो हमें अवसर दिया गया है कि हम पार्थिव जीवन की अनुभव-राशि द्वारा अपने लिए कुछ स्थायी धन कमा कर परलोक में सदा के लिए आनन्द उपभोग कर सकें।

कतिपय सम्प्रदाय तो परलोक के स्थान पर मुक्ति पर बल देते हुए कहते हैं कि वर्तमान जीवन एक प्रकार का कारावास है, जो हमारे पूर्व कर्मों का फल है। यहां जीवात्मा माया के जाल में फँस रही है; यह पृथ्वी एक विशाल कारागृह है और इस पृथ्वी पर हमारा जन्म लेना हमारे पतन का प्रत्यक्ष प्रमाण है। यहाँ हमारा मुख्य कर्त्तव्य यही है कि पुरुष को प्रकृति की उलझन से मुक्त करते

हुए शरीर त्याग के पश्चात् अध्यात्म मोक्ष का शाश्वत आनन्द प्राप्त करें। और कुछेक लोगों का विचार यह है कि जब हमारे संघात में कोई भी शारीरिक वासना न रहेगी तब हमारा अस्तित्व भी अशुद्ध अक्षर के समान मिटकर अपना कोई निशान बाकी न रखेगा।

कई ईश्वरवादियों का यह विश्वास है कि हम सभी ईश्वर की रचना और उसके दास हैं। हमारा अस्तित्व तथा हमारा जीवन हमारे लिए नहीं बल्कि हमारे सृष्टा तथा प्रभु के लिए है। हम यहाँ भक्ति व पूजा के लिए हैं और हमारा काम अपने प्रभु की प्रसन्नता और स्वीकृति के लिए है और यह स्वीकृति केवल मानव पुरुषार्थ से नहीं देव प्रसाद से ही प्राप्त हो सकती है। इसलिए ससार में हमारा असली काम यही है कि हम अपने प्रभु को जान पहिचान कर सदा उसके सान्निध्य तथा सहवास में जीते हुए उसके सामने स्वेच्छा अर्पण करके भगवान के किए पर नित्य-सन्तुष्ट रहें। और जितना भी समय मिले उसे प्रभु के गुणगान तथा कीर्त्तन में बिताएँ।

वर्तमान युग में ऐसे लोगों की भी कमी नहीं जो पूर्णता लाभ को अपना जीवन का उद्देश्य मानते हैं। और चूँकि यह जीवन अत्यन्त अल्पकालीन होने के कारण पूर्णता लाभ के लिए पर्याप्त नहीं है वह विश्वास रखते हैं कि पूर्णता के लिए हमारी ये अमिट आध्यात्मिक आकाँक्षाएं भावी जन्मों में पूरी हो सकती हैं। हम उत्तरोत्तर नए से नए जन्म पाते और अपने आत्म धन को वर्धित करते हुए कभी न कभी पूर्णता लाभ कर ही लेंगे।

कोई भी साम्प्रदायिक मत न रखने वाले लोग यह इच्छा रखते हैं कि इसी जीवन को ही अच्छे से अच्छा बनाया जाए। और वह अच्छाई के सम्बन्ध में अपनी धारणा के अनुसार जिया करते हैं। इन्द्रिय भोग-तत्पर लोग यह ख्याल करते हैं कि

जहाँ तक हो सके जीवन में सुख पाना चाहिए, फिर यह अवसर हाथ न आएगा। जो लोग बौद्धिक, कलात्मक और नैतिक सुख प्राप्त करने की योग्यता रखते हैं वे विषय-सुख-परायणता के स्थान पर विज्ञान, दर्शन, विभिन्न कलाओं और स्वार्थ रहित सेवा में अपने जीवन की भलाई ढूँढ़ा करते हैं।

कइयों का विचार यह है कि व्यक्ति-जीवन श्रेणी तथा वंश के लिए है। व्यक्ति अपने लिए उसी प्रकार ही कोई अलग थलग उद्देश्य नहीं रख सकता जिस प्रकार कि जीव-कोष्ट शरीर के लिए जीते हुए भी अपने लिए कोई पृथक् या व्यक्तिगत उद्देश्य नहीं रखते। हमारा भूत तथा भविष्य मानव-वंश में ही है; इसीलिए जब तक हमारा वंश जीवित है तब तक हम या हमारे जीवन के प्रभाव उस में जिया करेंगे। केवल व्यक्तिगत उन्नति मोक्ष या अमरत्व कोई अर्थ नहीं रखते। अतएव हमारे लिए केवल वंशीय व सामूहिक उद्देश्य के लिए जीना उचित है। ऐसे लोग सचमुच मानव जाति के विशाल तथा अमर जीवन के भागी होकर जीने का उच्चतम आनन्द प्राप्त करने में कृतकार्य होते हैं।

अपरंच ऐसे लोग भी प्रत्येक युग व देश में देखे जाते हैं जो जीवन से उदासीन रहते हुए इसमें कोई भी उद्देश्य या अर्थ नहीं देख पाते। ऐसे लोगों के हृदय और मस्तिष्क जीवन को स्वीकार ही नहीं करते। वे तो इसे एक तरह का दुखद बोझ और दुसह्य कष्ट जान कर इससे पलायन चाहते हैं। और जहाँ तक हो सके वे संसार तथा स्वसत्ता को भी भुलाने या मिटाने का प्रयत्न करते हैं। इन लोगों ने एक ऐसा दार्शनिक सिद्धान्त घड़ रखा है जो संसार और जीवन दोनों को ही भ्रम व स्वप्नमात्र बतलाता है। और जब उन्हें किसी और कल्पित लोक की ओर पलायन का रास्ता दिखाई न दे तो वह अपनी सत्ता के अन्दर ही अपने को

डुबोने या विलय करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। ऐसे लोग बाध्य होकर ही अपनी आँखें खोलते या अपने मस्तिष्क का प्रयोग करते हैं। इनका चरम लक्ष्य गतिहीनता, एकान्तता, सम्बन्ध शून्यता व पृथक्ता है।

इस प्रकार के विभिन्न विश्वासों और विचारों के प्रसार तथा स्पष्ट जीवन ज्योति के अभाव के कारण मानव जगत् में अव्यवस्था तथा गड़बड़ी फैल जाने से यह बात असम्भव सी हो रही है कि मनुष्य जाति एक सामान्य उद्देश्य के लिए सहकारी हो। इसीलिए अन्तर्राष्ट्रीय जीवन विश्वव्यापी संगीत के स्थान पर भयंकर रव का रूप धारण किए हुए है।

(ख)

चूँकि मानव जीवन का विशेष गुण आत्म चैतन्य है इसलिए जब तक वह अपने आप को नहीं पहचानता उसे अपने जीवन के अर्थ का पता ही नहीं होता। परलोक, ईश्वर व मानव जाति के सम्बन्ध में हमारी धारणाएँ स्वयं जीवन को आलोकित नहीं कर सकती। जीवन के रहस्य का उद्‌घाटन केवल आत्मज्ञान ही कर सकता है। किन्तु प्रचलित एकपक्षीय आत्मज्ञान भी जीवन का अर्थ नहीं बतला सकता।

जीना क्या है ? अपने आप और जगत् का सम्बन्ध है। और जब तक हम अपने स्वभाव को नहीं जानते हम अपने संसार के साथ सम्यक् सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते। जीवन में हमें अपनी आवश्यकताएँ अपने संसार से ही पूरी करनी होती हैं और हम अपने सम्बन्ध में जैसी धारणा रखेंगे वैसी ही हमारी आवश्यकताएँ होंगी।

उदाहरणतया जो पुरुष अपने को पशु ख़्याल करता है वह

इस संसार में अन्न वस्त्र व वास तथा शारीरिक सुखों को यथेष्ट मात्रा में पाने पर सन्तुष्ट होगा। और जो अपने आप को एक मानसिक सत्ता मानता है वह अपने जगत् में अपनी मानसिक आवश्यकताओं को ही पूरा करने के लिए सचेष्ट होगा और उसे उस समय तक चैन न आएगा जब तक वह प्राकृतिक वेष्टन के साथ मानसिक सम्बन्ध स्थापित न कर ले। और जो मनुष्य अपने को आध्यात्मिक सत्ता निश्चय करता है उसे अपने जगत् में अपनी आध्यात्मिक आवश्यकताओं को ही पूरा करना होगा और जब तक अपने इर्दगिर्द के जगत् में आत्मा या आत्मानुभूति की सर्वत्र झलक न पाए वह अशान्त ही रहेगा। इसलिए जीवन में शान्ति पाने की पहली शर्त आत्मज्ञान है। उपनिषदों का यह वाक्य बिल्कुल ठीक है :—

"तर्तिशोकमात्मवित्"

(आत्मा को जानने वाला शोक से पार हो जाता है।)

यदि मनुष्य साधारणतया अब तक प्रसन्न, शान्त तथा निश्चिन्त नहीं हो सका तो उसका कारण यही है कि शारीरिक जीवन-संग्राम में अब तक उसने अपना ध्यान बाह्य परिस्थितियों की ओर ही लगाए रखा है और उसे अपने स्वरूप में जागृत होने का पर्याप्त अवसर ही नहीं दिया। और भौतिक विज्ञान ने तो आत्म ज्ञान का प्रश्न ही उड़ा दिया है। क्योंकि उसकी दृष्टि में प्रकृति या शक्ति ही परम तत्व है। मन तथा आत्मा केवल प्रतीति मात्र हैं और वास्तव में कोई सत्ता नहीं रखते। क्योंकि वे प्रकृति की अभिव्यक्ति मात्र ही तो हैं और आधुनिक मनोविज्ञान भी आत्म-ज्ञान में सहायक नहीं होता क्योंकि यह भी आधुनिक विज्ञान के समान जीवन परिज्ञान के लिए जीवन की चोटी की बजाए उसकी जड़ों की ओर देखा करता है। इसे ऐसा प्रतीत होता है कि समस्त

बौद्धिक व नैतिक उमंगें आदिम व पाशविक प्रवृत्तियों के ही बदले हुए रूप हैं। यह केवल दृश्य ज्ञान ही रखता हुआ द्रष्टा तथा साक्षी की सुध ही नहीं रखता।

चूँकि मनुष्य एक आध्यात्मिक सत्ता है इसे अपना जीवन कर्त्तव्य जानने से पहले अपनी आध्यात्मिक सत्ता में जागना होगा। इस जागरण के बिना मानव समस्या का कोई सन्तोषजनक समाधान ही नहीं मिलता।

जीवन के मूल तत्व के समझने में एक बड़ी रुकावट यह है कि मनुष्य यदि बाह्य पदार्थों को नहीं तो अपने जीवन यन्त्रों (इन्द्रिय शरीर) को ही अपना आप जानता और मानता हुआ अपनी अध्यात्म सत्ता के अपरोक्ष ज्ञान से वंचित रहता है। इस उलझन से बचने के लिए आवश्यक है कि हम यह कहने के स्थान पर "कि मैं देह हूँ", "मैं इन्द्रियाँ हूँ", "मैं अन्तःकरण हूँ", "मैं हूँ मैं" के सूत्र पर विचार करते हुए यन्त्री को उसके यन्त्रों से प्रभेद करना सीखें। अपना आप देह, प्राण, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि नहीं बल्कि इन जीवन यन्त्रों का स्वामी है और इन के साथ ममत्व का सम्बन्ध अनुभव करता है।

अन्तरात्मा तथा बाह्य संघात के सम्बन्ध की व्याख्या निम्नांकित खाके से की जाती है :—

आत्मसत्ता	आत्म संघात
मैं (अहं)	मेरा (मम)
द्रष्टा (साक्षी)	दृश्य (साक्ष्य)
आलोक	आलोकित
अमिश्र	मिश्रित
अचल	निरन्तर गतिशील
अपरिवर्तनीय	परिवर्तनशील

एक	अनेक
निरपेक्ष	सापेक्ष
अदेश, अकाल, अवस्तु	देश काल में कोई न कोई वस्तु
वस्तुतः है	प्रतीतिमात्र

मैं स्वयं शरीर या मन नहीं, ये मेरे हैं। मैं केवल तथा विशुद्ध "मैं" ही हूँ। ये यन्त्र हैं मैं यन्त्री हूँ। मैं इनकी अनेकता के मध्य एक और स्वतः सिद्ध हूँ। ये अनुभव हैं और मैं अनुभवी हूँ।

मुझे अपने लिए जीना है, अपने यन्त्रों (शरीर या मन) के लिए नहीं। मुझे इनका स्वास्थ्य तथा विकास अभीष्ट है, क्योंकि ये आवश्यक जीवन यन्त्र हैं। मैं इनके बिना न तो जी सकता हूँ और न आत्मप्रकाश कर सकता हूँ। ये सदा बदलते रहते हैं। मैं समरस और निर्विकार हूँ। इन में गति और स्थिति का द्वन्द्व पाया जाता है किन्तु मेरा आत्मपद इन से ऊपर है। ये मेरे लिए उपाधियां नहीं बल्कि मेरी आध्यात्मिक असीमता तथा स्वतन्त्रता के प्रकाश के अति उत्कृष्ट साधन हैं। ये वाद्य हैं मैं वादक हूँ। ये विभिन्न प्रकार के वर्ण हैं मैं चित्रकार हूँ। मुझे अपने यन्त्रों से अलग थलग रहने के स्थान पर इन्हें स्वस्थ, अक्षुण्ण व सबल रखते हुए अपने आध्यात्मिक उद्देश्यों के लिए जीना और इनका प्रयोग करना होगा। मैं शरीर और मन तो रखता हूँ किन्तु मैं आत्मा नहीं रखता क्यों कि मैं स्वयं ही तो आत्म सत्ता हूँ। मुझ में आत्मा नहीं है : आत्मा तो मेरा अपना ही अस्तित्व है। मुझे अपने स्वभाव को भली प्रकार जान पहचान कर अपना जीवन कर्त्तव्य जानना तथा पालन करना होगा। और मेरे धर्म तथा मेरी नीति की स्थापना भी आत्मज्ञान पर ही होगी, क्योंकि मैं स्वयं ही तो जीवन का स्रोत व उजाला हूँ। मैं किसी का कार्य अथवा किसी की रचना नहीं हूँ। मैं स्वतः सिद्ध तथा स्वयं ज्योति हूँ। मेरे लिए ही शरीर

और मन आदि यन्त्र कोई मूल्य रख सकते हैं। अपने आप में वे कोई अर्थ व मूल्य नहीं रखते।

(ग)

जैसा कि हम देख आए हैं "हमारा आत्म स्वभाव है सचाई भलाई तथा सुन्दरता को जानना पहचानना, इन मूल्यों का सम्मान तथा इन की प्रशंसा करना, इनका आकांक्षी होना और इन की रक्षा, उन्नति तथा रचना के लिए यत्नशील रहना।" हमें अपने इस आत्म स्वभाव के अनुसार जीना होगा। देह तथा मन का आहार प्राकृतिक जगत् में है। किन्तु आत्मा अपना आहार मूल्य जगत् में पाती है। इन मानव-मूल्यों को छोड़ कर आध्यात्मिक जीवन तथा शांति की आशा रखना ऐसी भूल है जैसे प्यास बुझाने के लिए मरु मरीचिका के पीछे भागना।

इसलिए जीवन में हमारा सर्वप्रथम कर्त्तव्य यह होगा कि हम प्रकृति की आध्यात्मिक व्याख्या करें।

यदि किसी बैल को पुस्तकालय में प्रवेश का अवसर मिले तो वह पुस्तकों को सूँघता हुआ यही जानना चाहेगा कि इनमें क्या कुछ खाद्य सामग्री भी है? और वह अपने लिए जो कुछ अनुकूल पाएगा उसे खा कर पचाने के लिए यत्नशील होगा। भला इसका पुस्तकों के विषय तथा अर्थ से नाता ही क्या? किन्तु एक समुन्नत पुरुष पुस्तकालय में प्रविष्ट होने पर अपने हाथों से ग्रन्थावलि को छूता और अपनी आँखों से उनके अक्षर तथा शब्दों को देखता हुआ भी उनमें अदृश्य सचाई का अनुसन्धान करेगा। पुस्तक देश-काल में अपनी भौतिक सत्ता रखती है किन्तु उसके अर्थ अदेश अकाल तथा अभौतिक होते हैं। पुस्तकालय में जाकर जहाँ एक बैल उसे केवल भौतिक दृष्टि से देखता है, समुन्नत मनुष्य उसी

भौतिक पुस्तकालय की आध्यात्मिक व्याख्या द्वारा वह आन्तरिक व इन्द्रियातीत आनन्द पाता है जो पशु वर्ग के लिए सदा अप्राप्य है।

इसी प्रकार मनुष्य इस भौतिक जगत में इस लिए है कि वह अपने स्वभावानुसार इसकी आध्यात्मिक व्याख्या करे। दूसरे शब्दों में वह इस जगत् के अन्दर केवल शारीरिक आहार व सुख को ही ढूँढ़ने पर सन्तुष्ट न होता हुआ इसी में ही अदृश्य, अभौतिक व आध्यात्मिक आहार की भी खोज करे। यह जगत् केवल एक भौतिक सत्ता ही नहीं है बल्कि पुस्तक के समान अपना आन्तरिक पहलू भी रखता है। जिसे केवल समुन्नत मनुष्य देख सकता है। इस जगत् में हमारा कर्त्तव्य यही है कि हम इसमें से अपनी दैहिक आवश्यकताओं को पूरा करते हुए इसी जगत् के अभौतिक तथा आन्तरिक पहलू पर सचाई, भलाई व सुन्दरता का साक्षात् अनुभव कर पाएं। यदि हम आजीवन प्रकृति के भौतिक पहलू में ही अभिरुचि रखते हुए उसके अभौतिक पहलू का अध्ययन नहीं कर पाते तो हमारी दशा उस मूढ़ पुरुष के समान होगी जो पुस्तकों को खोल खोल कर उनके सुन्दर लेखन और उनके चित्रों को देखता है किन्तु उनके अर्थ को जानता ही नहीं। जिस जगत् में हम जी रहे हैं वह हमें केवल शारीरिक आहार ही नहीं बल्कि आध्यात्मिक आहार भी दे सकता है। दार्शनिक लोग इसी भौतिक जगत् को मूर्त ज्ञान जानते हैं। और प्रेमी जन की दृष्टि में यही जगत् अपनी माता के समान प्रेम मूर्ति है। कलाकार लोग भी इसमें चारों तरफ सौन्दर्य के नित्य नए उछाले देखा करते हैं। यदि हमारा दृष्टिकोण आध्यात्मिक हो तो यही प्रकृति हमारे आध्यात्मिक जागरण का साधन हो जाती है। और सच तो यह है कि जिस प्रकार इस प्रकृति के शारीरिक प्रभाव हमारे दैहिक इन्द्रियों को जगाते तथा समुन्नत करते हैं, इसी प्रकार यही आपाततः

भौतिक जगत् हमारे आध्यात्मिक इन्द्रियों को भी उत्तेजित व विकसित करता है। भौतिक जगत् तथा आध्यात्मिक जगत् दो पृथक् लोक होने के स्थान पर एक ही अखण्ड सत्ता के दो अविभाज्य पक्ष हैं। परन्तु जिस तरह आध्यात्मिक सत्ता हमारी शारीरिक सत्ता की अपेक्षा अत्याधिक वास्तविकता रखती है, इसी तरह भौतिक प्रकृति भी आध्यात्मिक जगत् की बराबरी का दावा नहीं कर सकती। शरीर में जीव तथा जीव में शरीर, तथा पुस्तक में अर्थ व अर्थ में पुस्तक देखना ही सम्यक् दर्शन है। जो पुरुष प्रकृति के बाह्य पर्यवेक्षण के साथ साथ ही इसके आध्यात्मिक मूल्यों का दर्शन कर पाता है वही तत्वदर्शी है। केवल भौतिक जगत् या केवल आध्यात्मिक जगत् का देखना यही सिद्ध करता है कि हम सम्यक् दृष्टि की बजाए अधूरी दृष्टि रखते हुए केवल एक आँख से देखा करते हैं। वर्तमान युग के वैज्ञानिक व मायावादी वेदान्ती इसी संकीर्णता में फँस गए हैं और जिस तरह अपने मित्र के चेहरे में ही उसके आध्यात्मिक गुणों यथा पवित्रता, शान्ति, प्रसन्नता, साहस, प्रीति तथा प्रतिभा को भाँप जाते हैं इसी तरह ही तत्वदर्शी लोग प्राकृत जगत् में ही आध्यात्मिक सत्ता का साक्षात् दर्शन पा कर घोषणा करते हैं "परमात्मा विश्व जगत् का प्राण है तथा विश्व जगत् परमात्मा का शरीर"। संक्षेपतः हमारा आत्मस्वभाव इस बात की माँग करता है कि हम भौतिक जगत् का केवल इन्द्रिय-जन्य ज्ञान उपार्जन करने के स्थान पर इसकी आध्यात्मिक व्याख्या करना भी सीखें। और जिस प्रकार हम किसी पुस्तक का अध्ययन करते समय युगपत् बाह्य दृष्टि से उसके अक्षरों और आन्तरिक दृष्टि से उसके अर्थ को देखा करते हैं ठीक इसी प्रकार मानव चेतना भी यही माँग करती है कि हम बाह्येन्द्रियों द्वारा प्रकृति का शरीर देखते समय अपनी आध्यात्मिक इन्द्रियों द्वारा उसमें सचाई

भलाई व सुन्दरता का साक्षात् दर्शन पाने का निरतिशय आनन्द प्राप्त कर पाएं।

पुस्तक के समान प्रकृति भी आध्यात्मिक सत्ता के सम्पर्क का एक अमूल्य माध्यम है। जो लोग अध्यात्म सत्ता का दर्शन पाने के लिए प्रकृति की ओर इन्द्रिय-द्वार रुद्ध करने के अभ्यासी हैं वे कभी जीवन्त तथा परम सुन्दर सत्ता का साक्षात्कार नहीं कर सकेंगे।

मनुष्य अपनी आध्यात्मिक इन्द्रियों द्वारा न केवल आध्यात्मिक जगत् के साथ सम्पर्क ही स्थापित करता है बल्कि इसका भागी और इस से प्रभावित हो कर आत्म विकास भी पाता है। यह आध्यात्मिक जगत् किसी एक व्यक्तिगत जीवात्मा से अत्यन्त बड़ा और ऊँचा है। आज तक कोई भी व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का समुदाय सचाई, भलाई और सुन्दरता की सीमा को निर्धारित नहीं कर सका और न ही कभी ऐसा कर सकेगा। यह आध्यात्मिक जगत् मानों एक आकाश है जो हम पर गुणात्मक ऊँचाई रखता है। किन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी यह प्रकाण्ड जगत् हमारी सत्ता का ही इसी प्रकार प्रसार मात्र है जैसे कि शारीरिक जगत् हमारे शरीर का ही फैलाव है। व्यष्टि और समष्टि के मध्य प्रभेद तो किया जा सकता है, किन्तु इन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता, क्योंकि ये एक ही अखण्ड सत्ता के दो अवियोग्य पार्श्व हैं।

(घ)

आध्यात्मिक इन्द्रियों द्वारा आध्यात्मिक जगत् के सम्पर्क में आने और उसकी अपरिमित सचाई, भलाई व सुन्दरता में भागी होने पर भी जीवन अपनी पूर्णता लाभ नहीं करता। क्योंकि मनुष्य का गुणविशेष रचना है। अर्थात् हमें आध्यात्मिक जगत् के साथ संयुक्त तथा उसमें भागी होने के अतिरिक्त भौतिक जगत् को भी नया

मूल्य प्रदान करना होगा। हमारा जीवन कार्य केवल ग्रहण करना ही नहीं बल्कि नित्य नई रचना भी है।

वृक्ष पृथ्वी से आवश्यक द्रव्य को केवल ग्रहण ही नहीं करता बल्कि उसे एक नया वानस्पत्य मूल्य देता है। पशु वनस्पति को आहार रूप में आत्मसात् करता हुआ उसे नया पाशविक मूल्य प्रदान करता है।

ठीक इसी प्रकार मानव जीवन का विशेष कार्य अपरा प्रकृति को विज्ञान द्वारा अपने वश में लाते हुए इसे मानव तथा आध्यात्मिक मूल्य देना है। उदाहरणतः जब एक चित्रकार केन्वेस और रंग तथा तूलिका ले कर एक मनोहर चित्र बनाता है तो इस उपकरण को एक नया अर्थात् मानवीय मूल्य देता है जो उसमें पहले विद्यमान न था। और जब कोई लेखक कागद, मसि, लेखनी लेकर इनसे एक अमर ग्रन्थ रच लेता है तो वह अपने जड़ उपकरणों को आध्यात्मिक मूल्य प्रदान करता है।

मनुष्य आध्यात्मिक तथा भौतिक सृष्टियों के मध्य खड़ा है। और जैसे मण्डूप जल तथा पृथ्वी में जी सकता है, इसी प्रकार मनुष्य भी आध्यात्मिक तथा भौतिक सृष्टियों में जीने की क्षमता रखता है। इसका विशेष कर्त्तव्य यही है कि वह भौतिक जगत् को अपनी बुद्धि तथा कल्पना शक्ति द्वारा अपने वश में लाकर इसे अपनी ही दिव्य (परा) प्रकृति के अनन्त तथा अविनश्वर भण्डार के नए मूल्यों से मूल्यवान् बना दे। यह भौतिक जगत् व्यर्थ या मायावी होने के स्थान पर आध्यात्मिक रचना के लिए अमूल्य तथा अत्यावश्यक उपकरण मुहैय्या करता है।

रागी सबसे पहले जड़ जगत् से उपकरण लेकर अपनी कल्पना शक्ति से एक नया रूप देकर वाद्य की रचना करता है और फिर उसे बजा कर अपने ही आन्तरिक दिव्य भण्डार से एक नया ही

कलात्मक मूल्य देता है जो स्वयं वाद्य तथा उसके उपकरण में विद्यमान न था। हम भी भौतिक जगत के साथ यही सम्बन्ध रखते हैं कि हम इससे अपनी शारीरिक आवश्यकताओं को पूरा करते हुए तथा इसमें आध्यात्मिक मूल्यों की झलकें पा कर अपनी अभौतिक इन्द्रियाँ जगाते हुए इसी तथाकथित जड़ जगत् को ही अपने आत्म-प्रकाश का हेतु बना दें, मानों जगत् रूपी पत्थर या लोहे से ही एक ऐसा दर्पण प्रस्तुत करें जिसमें हमें अपना मुख (स्वरूप) दिखाई देने से यही अनात्म प्रकृति आत्म-प्रकाश तथा आत्म-दर्शन का अमूल्य साधन हो जाए।

ऐसी दशा में प्रकृति केवल प्रकृति ही न रह कर सचाई, भलाई व सुन्दरता का चिह्न हो जाती है। शक्ति केवल अन्धशक्ति न रह कर प्रगतिशील भलाई का रूप धारण कर लेती है। और बाह्य जगत् के रूप भी रूप मात्र न रह कर सौन्दर्य तथा शोभा के प्रतीक हो जाते हैं। इसी प्रकार हम जड़ जगत् को आध्यात्मिक मूल्य देते हुए अपने मनुष्यत्व को सफल करते हैं।

जीवन का केन्द्रीय गुण आत्मप्रकाश है और मानव-जीवन का आत्मप्रकाश रचना में है। हमारा पहला काम मूल्यों को भली प्रकार जानना पहचानना है। और दूसरा व असली काम जड़ जगत् को नया आध्यात्मिक मूल्य प्रदान करना है। दार्शनिक स्पाइनोज़ा (Spinoza) ने संसार को एक अमूल्य जीवन सूत्र प्रदान किया था जब उसने लिखा था:—

"The proper function of the human mind is not to despise and reject but to understand and transform."

"मानव मन का असली काम यह नहीं कि वह (पदार्थों का) निरादर करता हुआ उन्हें त्याग दे बल्कि यह कि (उन्हें) समझ कर रूपान्तारित कर दे (इन्हें नया मूल्य प्रदान करे)"

धर्म जगत् में दो बड़ी धारणाएँ चली आती हैं। एक ईश्वर की दूसरी स्वर्ग की; इनमें से ईश्वर की धारणा तो मूल्य जगत् का संकेत देती है और स्वर्ग की धारणा इसी वास्तविक जगत् में अब और यहीं इसी पृथ्वी पर उन मूल्यों का प्रकाश है। और यह मनुष्य का ही काम है कि वह अपने ईश्वरत्व (मूल्य जगत्) के प्रति जागृत हो कर इस प्राकृत जगत् में उस दिव्य जगत् को मूर्तिमान कर दे। स्वर्ग वही है जहां सचाई, भलाई, और सुन्दरता का प्रचुर तथा नित नया आविर्भाव हो। हूरोग़िल्बान का ख्याली बहिश्त और अप्सराओं का कल्पित स्वर्ग उस आगामी तथा वास्तविक स्वर्ग की धुंधली छाया मात्र ही है जो हमने स्वयं इस पृथ्वी पर निर्माण करना है।

जिस प्रकार बीज काली मिट्टी या गन्दे कीचड़ में पड़कर अपने आन्तरिक जीवन के बल से उसे शोभा, सौरभ तथा माधुर्य में रूपान्तरित कर देता है, इसी तरह मनुष्य भी इस पृथ्वी पर मानो स्वर्ग का बीज है और इसका यहां होना और जीना केवल इसलिए है कि वह इस पृथ्वी पर एक नित्य प्रगतिशील आदर्श जगत् उत्पन्न कर दे। यही प्रकृत आध्यात्मिकता है। केवल शांत निर्भय तथा मुक्त होने में मानव जीवन का साफल्य नहीं है।

अपरा प्रकृति में परा प्रकृति एक दर्जे तक तो स्वयं ही प्रगट होती हुई हमें अपनी ओर जगा रही है। हम प्रकृति में यत्र-तत्र-सर्वत्र व्यवस्था, सुन्दरता, भलाई, सामञ्जस्य, ऐक्य तथा उद्देश्य देख पाते हैं। किन्तु उसके साथ ही इसमें जड़ता, अव्यवस्था, गड़बड़ी, बुराई, असुन्दरता, तथा अशांति भी पाई जाती हैं। इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि अपरा प्रकृति स्वयं क्षमता नहीं रखती कि वह अपने में आध्यात्मिक जगत् (परा प्रकृति) को सतत प्रगतिशील रफ्तार के साथ प्रकाशमान कर सके। यह अलौकिक कार्य मनुष्य की राह से ही हो

सकता है। मनुष्य ही यह विचित्र क्षमता रखता है कि वह अपने आध्यात्मिक पहलू पर मूल्य जगत् के साथ सयुक्त तथा इस में भागी हो कर अपनी दिव्य प्रकृति के अनुकूल जड़ जगत् में परिवर्तन लाता हुआ इसे आत्म विभूतियों का दर्पण बना सके। इसी रचनात्मक सक्रियता में ही मनुष्य की जीवन मुक्ति, अचल शान्ति तथा निरतिशय आनन्द है।

यहां हमारा असली काम आध्यात्मिक आत्मप्रकाश है। इसके लिए परा प्रकृति उपकरण मुहैय्या करती है। देह, इन्द्रियाँ तथा मन हमारे यन्त्र हैं। बुद्धि हमारे भीतर विज्ञान-दीप जला कर हमें जगत् की प्रचण्ड शक्तियों पर आधिपत्य प्रदान करती है; और दिव्यानुभूति तथा प्रेरणा परा प्रकृति से प्राप्त होते हैं। हम यहां स्वर्ग अथवा किसी और धाम में जाने के स्थान पर इसे स्वयं अभी और यहां निर्माण करने के लिए हैं।

---

१२. भद्रतर संसार के निर्माण की दो शर्तें

पृथ्वी पर वास्तविक स्वर्ग के निर्माण के लिए दो शर्तों का पूरा होना अत्यावश्यक है:—

(क)

मनुष्य विज्ञान द्वारा जड़ प्रकृति की प्रचण्ड शक्तियों का नियन्त्रण करने की योग्यता प्राप्त करे। अन्यथा वह इन शक्तियों का स्वर्ग निर्माण के लिए प्रयोग करने में असफल रहेगा। जिस सामग्री से हमने भवन निर्माण करना हो उस पर काबू पाना

आवश्यक होगा। इसी प्रकार इस जगत् को भद्रतर अथवा आदर्श जगत के रूप में बदलने के लिए अनिवार्य है कि प्रकृति हमारे हाथों में मोम के समान हो जाए।

चूँकि पिछले युगों में विज्ञान के अनुन्नत होने के कारण प्रकृति को वश में ला कर इसे मनमाने तरीके से बदलना सम्भव ही न था, मनुष्य स्वर्ग (आदर्श जगत्) की धारणा को आकाश में प्रक्षिप्त करने के सिवा कोई चारा ही न रखता था। किन्तु अब विज्ञान ने दिखला दिया है कि मनुष्य प्रकृति को वश में ला कर इसे अपने लिए प्रयोग कर सकता है। और इसीलिए अब वह इस पृथ्वी पर एक आदर्श जगत् रचने के स्वप्न देखने लगा है। विज्ञान तथा कल्पनात्मक रचना के बिना केवल संकल्प द्वारा इस जगत् को नहीं बदला जा सकता। नहीं तो, योगी जनों ने अपने सत्संकल्प से इस नरकमय जगत् को कभी का स्वर्ग बना दिया होता; और न ही किसी यज्ञादि धर्मानुष्ठान के जादू से इसे अभीष्ट रूप से बदला जा सकता है।

अपरंच, पार्थिव जीवन के भावी विकास के लिए केवल मनुष्य ही उत्तरदायी है। प्रकृति या कोई अन्य सत्ता नहीं। किन्तु इस महत्वपूर्ण कार्य के लिए विज्ञान द्वारा प्रकृति पर काबू पाना एक अटल शर्त है। सौभाग्यवश अब यह शर्त पूरी होने लगी है, क्योंकि अब कोई भी पार्थिव शक्ति मनुष्य की राह में स्थायी रूप से बाधक नहीं हो सकती। समुद्र, भूमि तथा वायु पर मनुष्य का आधिपत्य स्थापित हो चुका है। नदियाँ तथा पर्वत मनुष्य के निर्देश की प्रतीक्षा में है। अब मनुष्य के लिए सुअवसर है कि वह परा प्रकृति द्वारा अपरा प्रकृति के नवीनीकरण का यन्त्र बन कर अपने जीवन को सफल करे। किन्तु हम विज्ञान में चाहे कितने उन्नत हो जाएं यह महत्वपूर्ण कार्य केवल व्यक्तिगत प्रयत्न से सम्पादित नहीं हो सकता।

(ख) विज्ञान की शक्ति के अतिरिक्त निर्माण की दूसरी शर्त यह है कि व्यक्ति तथा जातियां अपनी अन्तरात्मा में ऐक्य प्राप्त कर आदर्श जगत् की रचना के लिए सहकारी हों। दूसरे शब्दों में न केवल इनके पास क्रियात्मक शक्ति का प्राचुर्य हो बल्कि इनमें सहकारी प्रेम भी पाया जाए। जब तक व्यक्तियों तथा जातियों में स्नेहपूर्ण सहकारिता न होगी तब तक कोई वैज्ञानिक शक्ति भी भद्रतर संसार के स्वप्न को मूर्त रूप में न देख पाएगी। इसलिए विज्ञान के साथ साथ आत्मोन्नति, शक्ति के साथ साथ परस्पर प्रेम भी अपेक्षित है। आध्यात्मिक उन्नति का एक अभ्रान्त चिन्ह परस्पर ऐक्य, प्रेम तथा सहयोग है। और जब सभी लोग विज्ञान की असीमित तथा निरन्तर उन्नतिशील शक्ति पा कर एक ऐन्द्रिय आन्तरिक ऐक्य के सूत्र में एक हो जाएंगे तब पृथ्वी पर आदर्श जगत् की उत्पत्ति सहज हो जाएगी।

अकेला विज्ञान भद्रतर संसार की रचना में सफल न होगा, जब तक कि मनुष्य स्वयं न बदल जाए। मानव जीवन की सबसे बड़ी समस्या स्वयं मनुष्य ही तो है। और जब तक यह समस्या हल नहीं होगी वैज्ञानिक शक्ति, आर्थिक पुनर्निर्माण व कोई भी नैतिक क्रान्ति नया और आनन्दमय जगत् उत्पन्न करने में असफल ही रहेंगी।

अभी मनुष्य को आपस में मिलकर सर्वात्म भाव से जीने का पाठ सीखना है। अब तक यह भी परस्पर संघर्ष की पाशविक प्रवृति के अनुसार जीता आया है। मानव जीवन का नियम सह-कारिता व पारस्परिक सेवा है। संघर्ष में हमारी शारीरिक तथा मानसिक शक्तियाँ व्यर्थ नष्ट हो जाती हैं किन्तु सहयोग में न केवल वे सुरक्षित रहती हैं अपितु अलौकिक वृद्धि प्राप्त करती हैं। देखा गया है कि मनुष्यों के आपसी मेल मिलाप व सहकारिता से ऐसे

अपूर्व गुणों का आविर्भाव होने लगता है जो एक दूसरे से अलग-थलग रहने की अवस्था में कभी उद्भूत न होते। इसी लिए यह बात मानी गई है कि जीवन्त-समग्र सर्वदा अपने अवयवों के समुदाय से अनन्त गुणा बड़ा होता है। जब इस पृथ्वी पर सभी व्यक्ति और जातियां सर्वोदय के लिए सहकारी हो जाएंगी तब उन में ऐसे नवीन गुणों व शक्तियों का आविर्भाव होगा जो हमारे लिए कल्पनातीत हैं।

किन्तु यह मार्मिक ऐक्य विज्ञान की शक्ति तथा स्वार्थपरता के दबाव से स्थापित नहीं हो सकेगा। इसके लिए तो मानवता की जानकारी आवश्यक है। जब मनुष्य देख लेगा कि सभी लोगों में एक ही अध्यात्म सत्ता और एक ही प्रकार की आध्यात्मिक इन्द्रियाँ पाई जाती हैं तब उसे इस बात में तनिक सन्देह नहीं रहेगा कि हम एक दूसरे के साथ वह आध्यात्मिक तथा अभञ्जनीय तथा अनतिक्रम्य सम्बन्ध रखते हैं जिसे पशु जानते ही नहीं। और जिस प्रकार पाशविक जगत् में जीवन संग्राम ही कुदरती चुनाव का एकमात्र नियम है सहकारिता व सेवा भी मानव जगत् में मानव प्रगति का एक अटल नियम है।

जिस तरह मनुष्य से निम्नतर स्तर के जीवन में जीवकोष्ठों के संयोग से जीवन्त शरीर उत्पन्न हो जाते हैं, इसी तरह मानव जगत में व्यक्ति और जातियों को परस्पर आध्यात्मिक एकता के सूत्र में ग्रथित कर एक प्रकाण्ड तथा विश्वव्यापी **मानव-देह** को जन्म देना होगा तभी यह तत्व सर्वधारण पर आविष्कृत हो जाएगा कि वस्तुतः मनुष्य एक अखण्ड व अविभाज्य सत्ता है। विभिन्न जातियाँ उस के अंग व व्यक्ति उसके जीव-कोष्ट हैं। किन्तु ऐसा ऐक्य आत्मज्ञान के उजाले में ही स्थापित हो सकता है। सचाई

भलाई व सुन्दरता (विज्ञान, नीति व कला) में ही मनुष्य जाति का एकीकरण सम्भव है।

---

१३. हमारी रचना शक्ति

हम देख चुके हैं कि मानव जीवन का विशेष गुण उसकी रचना शक्ति है। इसके बिना वह पशु पर कोई श्रेष्ठता नहीं रखता। यदि हमारे जीवन में सचेतन रचना न पाई जाए तो हम मानवाकार होते हुए भी सच्चे जीवन से दूर ही रहते हैं। हमारे जीवन का यथार्थ मानदण्ड हमारी आयु, धन या मान मर्यादा नहीं है। जीवन सफलता की यथार्थ कसौटी इसकी मात्रा के स्थान पर इसका रचनात्मक गुण है।

हमने यह भी देख लिया कि अपरा प्रकृति स्वर्ग रचना के लिए कच्चा माल मुहैय्या करती है। बुद्धि सृष्टि-नियमों के आविष्कार द्वारा हमें इस कच्चे माल पर आधिपत्य प्रदान करती है। और परा प्रकृति हमें इस जगत् के पुनर्निर्माण के आदर्श देती है। किन्तु जगत् को बदलने अथवा भद्रतर बनाने के लिए केवल कच्चा माल, आधिप्तय व आदर्श पर्य्याप्त नहीं हैं। इस स्वप्न को अपरा प्रकृति में मूर्तिमान करने के लिए एक और वस्तु भी अत्यावश्यक है। यह चौथी वस्तु वह रूपरेखा है जिसके अनुसार हमें स्वर्ग-भवन का निर्माण करना होगा और हमारी जो शक्ति इस प्रकार की रूप रेखाओं को जन्म देती है वही तो मनुष्य की रचना शक्ति है। इसी को ही मनोविज्ञान कल्पना शक्ति का नाम देता है। इस रचना शक्ति के बिना सभी मसाले, शक्तियाँ तथा स्वप्न बेकार रहते हैं।

अब तक मानव जगत् में अनुभव, बुद्धि तथा सहजज्ञान के महत्व को तो हृदयंगम किया गया है, परन्तु संसार के वास्तविक कल्याण के लिए इस रचना शक्ति के महत्व को यथोचित रूप से अनुभव नहीं किया गया। इस रचनात्मक कल्पना शक्ति की राह से ही हम अपने संसार को भद्रतर बना सकते हैं, क्योंकि यह कल्पना शक्ति ही तथ्यों के स्थान पर सम्भावनाओं की दृष्टि रखती है। और जब तक हम सम्भावनाओं के असीम आकाश की ओर देखना आरम्भ नहीं करते, तब तक तथ्यता (वास्तविकता) के सीमाबद्ध जगत् में ही घिरे रहते हैं। इसमें तनिक सन्देह नहीं कि यदि हमारी कल्पना शक्ति तथ्यता से अपना सम्पर्क खो कर बेलगामी के साथ उड़ान करने लगे तो वह हमें जीवन और मूल तत्व से दूर ही ले जाती है। यद्यपि हम कल्पना द्वारा कल्पित लोकों के ध्यान से आन्तरिक किन्तु अस्थायी आह्लाद प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु इससे वास्तविक तथा बाह्य स्थिति में कोई सुधार नहीं होता। हम भोज के अत्यन्त रसीले स्वप्नों द्वारा मनोरंजन करते हुए भी भूख से मरते चले जाते हैं, जब तक कि स्थिति में बाह्य परिवर्तन न हो। जब हमारे चारों ओर मलिनता के ढेर लग रहे हों, काश्मीर के उद्यानों का चिन्तन हमारी सहायता नहीं कर सकता। इसी प्रकार जब तक हमारी कल्पना शक्ति तथ्यता के आधार पर अपना भवन निर्माण नहीं करती, जीवन के लिए उपयोगी नहीं हो सकती। स्वर्ग, वैकुण्ठ, परमधाम और दयालधाम के नक्शे उस कल्पना की रचनाएँ हैं जो तथ्यता से अपना सम्पर्क खो कर वास्तविकता से उड़ान करने की प्रवणता रखती है। यदि इन्हीं आदर्शों को लेकर जिन्हें हमारी भीरु तथा भीत कल्पनाशक्ति ने आकाश में प्रक्षिप्त किए रखा है, पृथ्वी की वास्तविक तथ्यता में मूर्तिमान करने का प्रयत्न किया जाए तो एक नये और अभीष्ट संसार की उत्पत्ति हो सकती है।

केवल ज्ञान या आविष्कार से संसार आगे नहीं बढ़ सकेगा। हमें कल्पना द्वारा रचनात्मक यन्त्र निर्माण करने होंगे। और यह सब कुछ हो चुकने पर भी हमें योजना की आवश्यकता होगी जिसे कल्पना शक्ति ही पूरा कर सकती है। इन्द्रियाँ तो केवल घटनाओं का ज्ञान देती हैं और बुद्धि इन घटनाओं के अन्तर्गत क्रियाशील नियमों का पता देती है। किन्तु यन्त्र-रचना और योजना भी अत्यन्त आवश्यक हैं। और केवल कल्पना शक्ति ही इन्हें सत्ता-सम्पन्न कर सकती है।

कल्पना शक्ति एक दिव्य शक्ति है। और यह आध्यात्मिकता में बाधक होने के स्थान पर मानवता के श्रेष्ठतम गुणों में से है। और यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं है कि रचनात्मक कल्पना के बिना तथाकथित आध्यात्मिकता भी बंजर रहती है। आध्यात्मिकता का सार रचना तथा नवीनीकरण है। इसलिए कल्पना की अवहेलना करने पर हमारी तथाकथित आध्यात्मिकता भी एक कागदी फूल के समान निर्जीव ही होती है।

दुर्भाग्यवश आधुनिक विज्ञान व विकृत आत्मज्ञान कल्पना को कोई महत्व नहीं देते। विज्ञान तो इसे जानता ही नहीं। इस का कार्यक्षेत्र तो पर्यवेक्षण, परीक्षण तथा विचार है। किन्तु विकृत वेदान्त कल्पना को घृणा की दृष्टि से देखता हुआ इसे परम तत्व पर एक प्रकार का आवरण बतलाता है। और इसी लिए वह इस दिव्य शक्ति को ब्रह्म की एक अलौलिक व दिव्य विभूति मानने की बजाए इसे कल्पित तथा अनिर्वचनीय माया के सिर पर थोपना चाहता है। वस्तुतः कल्पना ही तो ब्रह्म की ईश्वरीय शक्ति है। ब्रह्म की इस रचनात्मक शक्ति के महत्व को न जानने के कारण ही सृष्टि-रचना का भेद ब्रह्म से अलग माया में ढूँढ़ने की आवश्यकता हुई थी।

उपन्यास, नाटक, कहानियाँ तथा हमारे दिवा स्वप्न परम आदरणीय रचनाएं हैं, इस शर्त पर कि वे एक आदर्श जगत् व भद्र संसार की योजनाएं प्रस्तुत करती हों। क्योंकि केवल तथ्यता का सम्पर्क ही कल्पना शक्ति के स्वास्थ्य तथा उपादेयता को सुरक्षित रख सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बेलगाम विक्षिप्त चित्त को संयत करना चाहिए किन्तु इसकी रचनात्मक क्रिया को दबाना तो एक प्रकार का आत्मघात ही है। साधारणतया एशिया और विशेषतः भारत में मन को मारने पर बड़ा बल दिया गया है। किन्तु इस समान प्रवृति के प्रबल होते हुए भी कई शास्त्र स्वीकार करते हैं कि मन ही वह ब्रह्मा है जो इस वास्तविक जगत् को उत्पन्न करने या बदलने की शक्ति रखता है।

कल्पना शक्ति का विकास शिक्षा का एक परमावश्यक अंग है। और हमें प्रति दिन कम से कम एक बार तो मन को खुली छुट्टी देनी चाहिए कि वह स्वच्छन्दतापूर्वक खुल खेला करे। और शनैः शनैः इसे दबाने या मारने के स्थान पर इसे स्नेहपूर्वक साधना चाहिए ताकि इसे तथ्यता को सम्भाव्य आदर्शों में परिणत करने के लिए योजनाएं बनाने की टेव हो जाए। कल्पना जगत् स्वातन्त्र्य का जगत् है। और कल्पना को तथ्यता तथा नियम का कैदी बनाना न केवल जीवन के नवीनीकरण में कठोर बाधा है बल्कि एक अक्षम्य अपराध है।

---

१४. जीवन के तीन निर्णायक दृष्टिकोण

जो लोग स्वयं जीवन से ही भयभीत रहते हैं वे तो इसे जहां तक हो सके, भुलाने या इससे भागने का प्रयत्न किया करते हैं। और यदि वह ऐसा न कर सकें तो इसे भ्रम मात्र सिद्ध करके अपने मन को सान्त्वना देना चाहते हैं कि वस्तुतः रस्सी में सर्प का भ्रम हो रहा है। वास्तव में सर्प है ही नहीं। ये लोग केवल शारीरिक या पाशविक रूप से ही जिया करते हैं, मानसिक तौर पर वे जीना चाहते ही नहीं। किन्तु स्मरणीय है कि जीवन का स्वयं जीवन से ही विद्वेषी होना अस्वास्थ्य का चिह्न है। और उस का मूल कारण अविद्या है।

जो लोग जीना चाहते हैं वे साधारण दो दृष्टिकोण रखते हैं—(क) आशावाद (ख) निराशावाद।

आशावाद सिखलाता है कि यह सृष्टि समस्त सम्भव सृष्टियों में श्रेष्ठतम है, और जो कुछ वास्तविक है वह सुसंगत तथा बोधगम्य है। और अन्ततः सब कुछ ठीक होकर रहेगा। यदि कहीं बुराई दीख पड़ती है तो वह सामयिक है और इसलिए पाई जाती है कि अभी तक सृष्टि भवन निर्मित हो रहा है, जिस के पूर्णतः सम्पन्न होने पर इसमें कोई खराबी न रहेगी। जीवन एक सुखान्त नाटक है। और इसकी उन्नति अटल है। यह स्वयं तथा स्वभावतः स्वर्ग में परिणत हो जाएगा। और यदि यहां कोई त्रुटि शेष रह गई तो परलोकगत स्वर्ग में तो जाना ही है।

यह दृष्टिकोण सम्भवतः हमारे स्वभाव का परिणाम ही होता है। रक्तज स्वभाव अफीम के सदृश मस्तिष्क पर प्रभाव डालता हुआ अनेक प्रकार के मनोरंजक भ्रम उत्पन्न करता है। और इस प्रकार के भ्रम जीवन में अभिरुचि के कारण होकर इसके संग्राम

में उपयोगी भी होते हैं। किन्तु यह दृष्टिकोण किसी तरह से भी वैज्ञानिक कहलाने का अधिकार नहीं रखता, क्योंकि इसमें हमारी आशाएं बाह्य तथ्यों तथा वास्तविक घटनाओं पर आधारित नहीं हुआ करतीं।

आशावाद सभ्यता के रुख के सम्बन्ध में हमें बेपर्वाह तथा अलस बना कर झूठी सान्त्वना देता हुआ जीवन प्रगति में बाधक सिद्ध होता है।

इसके विरुद्ध दूसरा दृष्टिकोण निराशावाद है। इसकी दृष्टि में जीवन एक दुखान्त नाटक है। इस में बुराई भलाई पर प्रबल है और रहेगी। और इस बात की कोई आशा ही नहीं कि हमारा भविष्य हमारे अतीत से अच्छा हो सकेगा।

निराशावाद की उत्पत्ति का कारण रक्त की कमी हो सकता है। प्राचीन सभ्यताएं निराशावाद के स्वाभाविक खटोले हैं। कारण यह कि हमारे सामाजिक रीति रिवाज ऐसे कड़े तथा क्रूर थे कि संसार में उन्नति तथा सुधार की आशाओं का गला घोंट देते थे। और जहां कहीं रचनात्मक उमंगों को दबा दिया जाता है वहाँ समर्पण और अन्ततः निराशा के भाव प्रबल हो जाया करते हैं।

निराशावाद पराजय का मनोभाव प्रगट करता है। यह जीवन के लिए बहुत हानिकारक है। परन्तु प्राक्वैज्ञानिक युगों में इसकी उत्पत्ति एक स्वाभाविक बात थी, क्योंकि वैज्ञानिक शक्ति के बिना मनुष्य प्रकृति का एक खिलौना मात्र या दास ही होता है और वह अपने संसार को अभीष्ट रूप से बदलना तो दूर की बात, ऐसी आशा भी नहीं कर सकता।

वैज्ञानिक उन्नति होने पर ही मनुष्य प्रकृति को यथावत् अवस्था में देखने के योग्य होता हुआ इस पर अपनी निराशा या

आशा का रंग चढ़ाना छोड़ देता है। अपरंच, वह विज्ञान द्वारा नवीन शक्ति प्राप्त कर केवल आशा ही नहीं बल्कि दृढ़ निश्चय रखता है कि वह इस संसार (विशेषतया मानव संसार) को भद्रतर बना सकता है। ऐसी निर्मल दृष्टि और नूतन शक्ति के अनुभव द्वारा आशावाद तथा निराशावाद के स्थान पर एक और भी सुस्थतर दृष्टिकोण की उत्पत्ति होती है, जिसे सुधारक दृष्टिकोण कहना ठीक होगा।

इस तीसरे दृष्टिकोण का सिद्धान्त यह है कि मानव-भाग्य संशोधनीय है व मनुष्य अपनी स्थिति का सुधार कर सकता है। यह दृष्टिकोण सिखलाता है कि न तो हम प्रकृति की लाडली सन्तान हैं और न ही प्रकृति हमारी शत्रु है। बल्कि जहां तक विज्ञान देख सकता है यह पक्षपात-शून्य है और यह मनुष्य का अपना कर्तव्य है कि वह प्रकृति के नियमों को जानता हुआ इस की प्रचण्ड शक्तियों को अपने वश में लाए। और वह अपने को प्रकृति की रचना जानता हुआ भी यह देख कर कि प्राकृतिक शक्तियों की खोज और उनके प्रयोग पर कोई भी हद नहीं है, अपनी स्थिति के अनन्त सुधार का विश्वास रख सकता है। भौतिक विज्ञान मानव विकास की कोई सीमा निर्धारित करने के स्थान पर प्रकृति पर इसके असीम आधिपत्य की आशा दिलाता है। और यह बात कि केवल परिश्रम और दक्षता से ही सृष्टि नियमों को अपने कल्याण के लिए प्रयोग में लाया जा सकता है, मानव चेष्टा के लिए एक प्रभावशाली प्रेरक है। इस दृष्टिकोण के उजाले में आशावाद के धोखे तथा निराशावाद की आशाहीनता नहीं ठहर सकती।

ये तीनों दृष्टिकोण क्रमशः कदर्यता, सुगम सौन्दर्य तथा कठिन सौन्दर्य के साथ तुलना रखते हैं। सुगम सौन्दर्य वह है जो बाहर

की सजावट से प्राप्त किया जाए। और कठिन सौन्दर्य वह है जो स्वास्थ्य, पवित्रता व प्रसन्नता से चेहरे पर व्यक्त हो जाता है।

मनुष्य का भावी सुधार तथा उन्नति अनिवार्य होने के स्थान पर मनुष्य के अपने सद्भाव और सहकारिता पर निर्भर है।

संसार-गति न तो एक सुखान्त नाटक है और न ही एक दुखान्त घटना। यह तो एक अपूर्ण नाटक है जिसके अन्त का निर्णय करने में हम दखल दे सकते हैं। अर्थात् इसके अंत को अच्छा या बुरा बनाना हमारे हाथ में है।

---

१५. जीवन की अपनी प्रार्थना तथा उपासना

जीवन सर्वदा दो पक्ष रखता है। एक पक्ष पर तो वह अपने लिए द्रव्य व शक्ति अपने वेष्टन से ग्रहण करता है और दूसरे पक्ष पर उस गृहीत द्रव्य अथवा शक्ति को अपनी विशेषता के साँचे में ढाल कर इसे एक नया ही मूल्य तथा रूप देता है। वह अपने एक पहलू पर सदा लेता हुआ दूसरे पर सदा दान करता है। परन्तु यह लेन देन पानी के नल के समान नहीं कि एक पहलू से ले दूसरे पहलू से फेंक दिया। बल्कि वह जो कुछ भी लेता है उसे अपने अन्तर से एक नया ही रूप या गुण देकर बाहर करता है।

मनुष्य का आध्यात्मिक जीवन भी इसी नियम के अधीन है। जैसा कि पहले कह चुके हैं, मनुष्य शारीरिक क्षुधा के समान आध्यात्मिक क्षुधा भी रखता है। जहां उसका शरीर अपरा प्रकृति से अपना आहार पाने के लिए व्याकुल होता है वहां उसकी अध्यात्म सत्ता भी परा प्रकृति के लिए अमिट भूख रखती है।

अन्तर केवल इतना ही है कि जब कि शरीर तथा उसकी क्षुधा दोनों ही सीमित होते हैं, अध्यात्म सत्ता स्वयं अपरिमित तथा अपरिमेय होने के कारण अपरिमित क्षुधा रखती है। प्रत्येक मनुष्य कभी न कभी, किसी न किसी मात्रा में सचाई, भलाई व सुन्दरता या इनमें से किसी एक या दो मूल्यों के लिए क्षुधा अनुभव करता है। इस भूख के बिना आध्यात्मिक जीवन कोई अर्थ ही नहीं रखता और इस क्षुधा का गुण तथा उग्रता ही अध्यात्म जीवन के गुण व गाम्भीर्य का निर्णय करती है। वास्तव में इसी क्षुधा का नाम ही प्रार्थना है। और यह जीवन की अपनी प्रार्थना है। और इस आध्यात्मिक क्षुधा द्वारा आध्यात्मिक आहार (सचाई, भलाई व सुन्दरता) को आत्मसात् करना उपासना कहलाता है।

अज्ञ लोग प्रार्थना को एक प्रकार की याचना समझते हैं, जो उन बातों को जानने के लिए जिन्हें हम स्वयं जानने की आशा नहीं रखते और उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जिन्हें हम अपनी मानवी चेष्टा से पूरा नहीं कर सकते, उस सत्ता से की जाती है जिसे विश्व जगत् का स्रष्टा तथा प्रभु माना जाता है। इस प्रकार की प्रार्थना में अविद्या का अंश यही है कि मनुष्य अपने आप से बाहर या ऊपर किन्तु अपने से मिलती जुलती और अपने से अनन्त गुणा बड़ी तथा ऊँची सत्ता कल्पना कर लेता है, जिसकी अपनी शक्ति व गुणों का कोई अन्त ही नहीं।

इस प्रकार की याचनाशील प्रार्थना के लिए हमारा शैशव तथा हमारी विगत नैतिक व्यवस्थाएं उत्तरदायी हैं। बचपन में वर्षों पर्यन्त हमें अपने माता पिता से माँगना पड़ता है। बच्चा जन्म लेते ही दुग्धपान के लिए रोने और बिलबिलाने लगता है। इस प्रकार कई सालों के अभ्यासवश माँगना इसका द्वितीय स्वभाव हो जाता है। इसके अतिरिक्त विगत नैतिक व्यवस्थाओं में भी प्रजा सदा ही

महाराजा या सुल्तान के आगे याचनाएं ही किया करती थी। अपरंच, इस प्रकार याचना को प्रभावशाली बनाने के लिए चाटूक्ति की टेव मानों हमें विरसे में मिली है। और चूँकि इस प्रकार की याचनाएं प्रायः पूरी होती पाई है हमारे उपचेतन मन में यह बात बैठ चुकी है कि कोई हमारी पुकार को सुना और स्वीकार करता है।

किन्तु विज्ञ लोग जानते हैं कि प्रार्थना तथा उपासना केवल जादू या धर्मानुष्ठान के स्थान पर आध्यात्मिक जीवन के नित्य तथा व्यापक नियम हैं। जिस प्रकार शारीरिक जीवन की उन्नति के लिए शारीरिक क्षुधा तथा शारीरिक आहार का होना आवश्यक है उसी प्रकार हमारी आत्मोन्नति के लिए प्रार्थना व उपासना आवश्यक हैं।

प्रार्थना और उपासना में यदि कोई अविद्या का अंश है तो यही है कि अन्यता तथा द्वैत की अविद्याजनित भ्रान्ति पाई जाती है। जीवन तथा उसके श्रेष्ठ गुणों का उद्गम हमारी अपनी अध्यात्म सत्ता से कहीं बाहर न होकर इसके भीतर ही तो विद्यमान है। वह मूल सत्ता जो सर्व घटनाओं तथा सम्भावनाओं का स्रोत है कोई और नहीं, हम सब का अपना आप है। यद्यपि शरीर और जगत् भी वस्तुतः एक अखण्ड सत्ता ही है परन्तु उनके मध्य देशगत तथा कालगत प्रभेद पाया जाता है। किंतु हमारी अध्यात्म सत्ता तथा मूल्य जगत् के मध्य किसी प्रकार का व्यवधान नहीं पाया जाता। भौतिकत्व एक विभाज्य गुण है। किंतु आध्यात्मिकता में विभाग असंभव है। आध्यात्मिक जगत् में समग्र अपने प्रत्येक अंश में पूर्णतः विद्यमान होता है, केवल अंशतः नहीं। किन्तु प्राकृतिक जगत् में समग्र की अपने प्रत्येक अंश में पूर्ण विद्यमानता असम्भव है।

प्रार्थना की क्षुधा वास्तव में हमारी उन सम्भावनाओं के लिए आकांक्षा है, जो हमारी आध्यात्म सत्ता में ही अन्तर्निहित है। इसलिए प्रार्थना में क्षुधा आवश्यक है। किन्तु याचना आवश्यक नहीं। याचना का भाव द्वैत भ्रम से उत्पन्न हो कर अविद्या को घनीभूत करता है। किन्तु तत्व ज्ञान अन्य भाव का भ्रम दूर कर इस आध्यात्मिक सचाई में सन्देह व आशंका का अवकाश ही नहीं रहने देता। हमारा इष्टदेव हमारी उच्च आकांक्षा के मूल में ही विद्यमान है। हमारी आत्मा में हमारे इष्ट की विद्यमानता ही उस के लिए आकांक्षा को जन्म देती है। किन्तु इस इष्ट को वस्तुतः प्राप्त करने के लिए दो बातों की आवश्यकता है। (१) इस के लिए क्षुधा (आकांक्षा)। (२) उसकी धारणा की सुस्पष्टता। आध्यात्मिक पूर्णता के लिए केवल क्षुधा (आकुल आकांक्षा) ही यथार्थ प्रार्थना है। ऐसी प्रार्थना का भाव शब्दों की अपेक्षा गम्भीर-तर व उच्चतर होता है। और अध्यात्मपूर्णता का, जिसे अज्ञ लोग अपने आप से पृथक् मान कर ईश्वर, गॉड, प्रभृति नाम दिया करते हैं, चिन्तन ही यथार्थ उपासना है जब कि प्रार्थना द्वारा हम अपने ही गुप्त आत्मभण्डारों की खोज किया करते हैं। उपासना द्वारा इन्हें वस्तुतः अपने जीवन में प्राप्त कर लेते हैं।

आध्यात्मिक विकास के लिए अत्यावश्यक है कि हमारे मनों में अध्यात्मपूर्णता के लिए आकुल आकांक्षा (प्रार्थना) और इनकी सुस्पष्ट धारणा (उपासना) पाई जाए। अर्थात् जो कुछ हम हो सकते हैं उसके लिए हमारे हृदय में तड़प और मस्तिष्क में स्पष्ट तथा उज्ज्वल धारणा हो। अन्यथा आध्यात्मिक विकास असम्भव होगा।

अज्ञानी लोगों ने प्रार्थना तथा उपासना को अपने आप से किसी भिन्न सत्ता के आगे याचना तथा उसका ध्यान मान रखा

है। किन्तु यह निपट भ्रम है। मनुष्य की अपनी सम्भाव्य पूर्णता ही उसका देव है। गुणों की दृष्टि में तो मनुष्य और ईश्वर में अत्यधिक अन्तर हो सकता है, किन्तु इन दोनों के स्वरूप में कभी नहीं। बच्चे और माता-पिता का भेद दृश्यतः तथा गुणात्मक हुआ करता है। किन्तु तात्विक कभी नहीं। और इस तात्विक ऐक्य की साक्षात् अनुभूति का नाम ही अपरोक्ष ज्ञान है।

तज्ञ पुरुष प्रार्थना व उपासना को एक धर्मानुष्ठान के स्थान पर इसे स्वयं जीवन ही जानते हुए सर्वदा अपने भीतर पूर्णता की आकांक्षा को ज्वलित और इसकी धारणा को सुस्पष्ट रखते हैं। और उनका समस्त जीवन ही प्रार्थना तथा उपासना हुआ करता है। जो पुरुष अपने मन में अध्यात्मपूर्णता की आकांक्षा अथवा सुस्पष्ट धारणा ही नहीं रखता वह आध्यात्मिक दृष्टि से मृतप्राय ही है। और यदि वह जीता हुआ दिखलाई देता है तो वह पाशविक रूप से ही जीता है।

हमें अपनी प्रार्थना का मूल्यावधारण इस बात से करना चाहिए कि हमारे मन में सचाई, भलाई व सुन्दरता के लिए किस मात्रा में तड़प या आकांक्षा है। और यथार्थ उपासना का मानदण्ड यह है कि हम अपने समक्ष सर्वदा सत्य (सचाई) शिव (भलाई) और सुन्दर (सुन्दरता) का उच्चतम आदर्श समुज्ज्वल रखते हुए इसे ह अपना जीवन लक्ष्य बनाए हों। स्वास्थ्य, धन, मान, शक्ति, सुख के स्थान पर हमारा जीवन लक्ष्य अनन्त सचाई, भलाई व सुन्दरता की ओर निरन्तर बढ़े चले जाना हो। और सच तो यह है कि हम वस्तुतः उसी वस्तु के लिए ही प्रार्थना कर सकते हैं जिसके हम आकांक्षी हों। यदि कोई व्यक्ति ईश्वर से स्वास्थ्य, धन, मान मर्यादा आदि जीवन साधनों के लिए प्रार्थनाशील रहता हुआ जीवन के चरम मूल्यों को अपना ध्येय नहीं बनाता तो वह वास्तव में ईश्वर

पूजा के स्थान पर अपने स्वास्थ्य, धन व मान मर्यादा का ही पुजारी होता है। इसी लिए कहा गया है कि किसी पुरुष का इष्टदेव या धर्म वही कुछ होता है जिसे वह अपना ध्येय बना लेता है। और प्रत्येक व्यक्ति अपने ध्येय को ही अपनी वासनाओं, विचारों व कृत्यों में ढूँढ़ा करता है।

अतएव प्रार्थना तथा उपासना व्यर्थ अनुष्ठान होने के स्थान पर हमारे आध्यात्मिक जीवत की शर्तें हैं। किन्तु अज्ञ लोगों ने इन्हें केवल धर्मानुष्ठान ही मान रखा है। इसी लिए तो आज संसार में प्रार्थना और उपासना के विरुद्ध विद्रोह होने लगा है। जीवन का उद्देश्य आत्मानुभूति तथा आत्म प्रकाश (अपनी सम्भावनाओं की प्रगतिशील अभिव्यक्ति) है। अर्थात् हम वस्तुतः वही कुछ हो जाएं जो कि हम स्वरूपतः हैं। और हमारा जीना हमारे होने का निरन्तर प्रगतिशील प्रकाशन हो। किसी से भी कुछ मांगना हीनता है, जिसे केवल दीन हीन मन ही स्वीकार कर सकता है।

हम यहां केवल आत्मलाभ तथा आत्मप्रकाश के लिए हैं। संसार में और कुछ पाने या परलोक में और कहीं जाने की तैयारी के लिए नहीं। हमारी आत्म सत्ता में अनेक तथा अपरिमित गुप्त सम्भावनाएँ अपने प्रकाशन के लिए तड़प रही हैं और जिन्हें मूर्तिमान करने के लिए ये तीन बातें अपेक्षित हैं:—

(क)—इन सम्भावनाओं के लिए आकुल आकांक्षा विद्यमान हो। ऐसी आकांक्षा केवल उस अवस्था में ही उत्पन्न हो सकती है जब हम अपने दोषों तथा त्रुटियों को जानते व पहचानते हों।

(ख)—इस क्षुधा को जागृत रखने और बढ़ाने के लिए आवश्यक है कि अध्यात्म मूल्यों (सचाई, भलाई व सुन्दरता) के विषय में हमारी धारणा सीमाबद्ध न हो। अन्यथा यह क्षुधा

भी शारीरिक क्षुधा के समान एक सीमा पर पर्यवसित हो जाएगी। किन्तु जहां शारीरिक उन्नति अपनी सीमा रखती है आध्यात्मिक सम्भावनाएं अपार तथा असीम हैं। आज तक कोई एक व्यक्ति या समस्त मानव जीवन भी सचाई, (विज्ञान), भलाई (नीति), तथा सुन्दरता (कला) की सीमाएं निर्धारित नहीं कर सका।

(ग)—इस अमिट भूख और अपरिमित धारणा के साथ साथ आवश्यक है कि आध्यात्मिक पूर्णताओं के लाभ के लिए यथोचित प्रयत्न भी किया जाए। प्रार्थना कोई जादू नहीं है, कि इस के अनुष्ठान मात्र से ही अर्थात् इसके करते ही ज्ञान, भलाई, शक्ति तथा सौन्दर्य स्वयं पुरस्कार के रूप में प्राप्त हो जाएंगे। यह धारणा आत्म-प्रवंचना के सिवा कुछ नहीं। हमें ज्ञान, भलाई, सुन्दरता, शक्ति तथा प्रसन्नता में अग्रसर होने के लिए यथोचित चेष्टा भी करनी होगी।

यह धारणा कि मनोविज्ञान प्रार्थना तथा उपासना को भ्रम-मूलक बतलाता है एक अविद्यापूर्ण भ्रान्ति है। मनोविज्ञान तो प्रार्थना तथा उपासना (हमारी सम्भाव्य पूर्णता की क्षुधा व धारणा) को हमारे आत्म विकास के लिए परमावश्यक बतलाता है। परन्तु आज जहाँ अधिकांश लोग केवल आनुष्ठानिक प्रार्थना व उपासना करते हुए देखे जाते हैं वहां शिक्षित किन्तु पथभ्रष्ट लोग भी प्रार्थना के आध्यात्मिक रहस्य से अनभिज्ञ रहते हुए इसकी अवहेलना किया करते हैं।

---

१६. व्यक्ति और समाज का परस्पर संबंध

जीवन के विषय में संसार में दो बड़े भ्रम प्रसारित हो रहे हैं। कई लोग तो जीवन को एक व्यक्तिगत वस्तु जान कर केवल अपने व्यक्तिगत कल्याण के लिए जिया करते हैं। और यदि वह आध्यात्मिक उन्नति के आकांक्षी हों तो भी वह केवल अपना वैयक्तिक सुधार, उन्नति व मोक्ष के सिवा और कुछ नहीं चाहते। और यदि वह दूसरों की भलाई करते दिखाई देते हैं तो वह इसे भी अपने व्यक्तिगत कल्याण का साधन मान कर ही ऐसा करते हैं। इसके विरुद्ध ऐसे लोग भी हैं जो व्यक्तित्व के स्थान पर केवल समाज के लिए जीने में ही अपने जीवन की सफलता देखते हैं। ऐसे लोग व्यक्ति को सामूहिक कल्याण का एक साधन मात्र ही जानते हैं। इनका जीवनोद्देश्य व्यक्तिगत के स्थान पर सामुदायिक हुआ करता है।

असल बात यह है कि वैयक्तिकता और सामूहिकता मानव जीवन के दो ध्रुव हैं। इन दोनों ऊपर से प्रतिद्वन्द्व प्रतीत होने वाले ध्रुवों के मिलाप में ही वास्तविक जीवन है। इन में से किसी एक ध्रुव की अवहेलना करने पर जीवन अपनी वास्तविकता खो कर एक छिन्न-सत्ता मात्र रह जाता है। और चूँकि जीवन युगपत ऐक्य व अनैक्य होने से एक वास्तविक सत्ता है वह छिन्न सत्ता का रूप धारण करते ही अपना आन्तरिक भाव खो बैठता है। भारत में अब तक वैयक्तिकता पर ही बल दिया गया है। इस के विरुद्ध रूस आदि कई देशों में सामूहिकता पर ज़ोर दिया जा रहा है। वैयक्तिकता केवल व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य को ही जानती है। आपसी ऐक्य को कदापि नहीं। और सामूहिकता में ऐक्य तो पाया जाता है किन्तु व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य समाप्त हो जाने पर इसमें व्यक्तिगत

जीवन सामूहिक जीवन-कल का एक विवश पुर्ज़ा हो कर रह जाता है। और व्यक्ति को अपने अन्दर से विकास पाने व आत्म प्रकाश करने के स्थान पर एक बाह्य साँचे में ढाला जाता है। सामूहिकता शक्ति तो देती है किन्तु इसमें जीवन के अन्तःस्रोत का बहाव रुद्ध हो जाता है। वैयक्तिकता पर बल देने से न केवल समाज दुर्बल बल्कि समाज में भी उन गुणों की उत्पत्ति का आविर्भाव तथा विकास ही नहीं हो सकता, जो व्यक्तियों के परस्पर मेल और सहकारिता से प्रगट होते हैं।

अबाधित स्वातन्त्र्य बे-लगामी है। और सम्पूर्ण अनुगति दासता है। सम्यक् तथा पूर्ण जीवन की प्रसन्नता का रहस्य यह है कि मनुष्य अपने व्यक्तित्व को चतुर्दिक् विकसित कर चुकने के पश्चात् सामूहिक कल्याण के लिए जीता हुआ दूसरों के मुकाबिले में अपनी व्यक्तिगत प्रसन्नता, शक्ति, स्वातन्त्र्य व मान मर्यादा को ढूँढ़ने के स्थान पर सामूहिक प्रसन्नता, शक्ति, स्वातन्त्र्य तथा गौरव का अभिलाषी हो। नैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक मामलों में तो वह अनुगति के सुनियम का पालन करता हो, पर सचाई, भलाई व सुन्दरता की प्राप्ति तथा रचना के लिए पूर्णतया स्वतन्त्र हो। अनुगति बाह्य व्यवस्था से ही सम्बन्ध रखती है। स्वातन्त्र्य आन्तरिक स्वातन्त्र्य से सरोकार रखता है। केवल व्यक्तिगत स्वच्छन्दता सरासर पथ-विभ्रान्ति है। और केवल सामूहिक अनुगति हीनतम बन्धन।

अत्यधिक वैयक्तिकता का परिणाम समाज में विशृंखलता है, क्योंकि व्यक्तिगत उद्देश्य आपस में टकराए बिना नहीं रह सकते। और इसके विरुद्ध व्यक्तियों पर समाज का अत्यधिक दबाव होने पर वह समाज एक जीवन्त देह के स्थान पर एक कल बन जाता है। और इस में वैयक्तिक योग्यताएं सुप्त हो जाती हैं

क्योंकि इसके वातावरण में व्यक्तियों को खुला सांस लेने तथा स्वच्छन्दता पूर्वक चलने फिरने की इजाज़त नहीं होती। व्यक्ति और समाज आपस में ऐसा गम्भीर सम्बन्ध रखते हैं कि इन्हें एक दूसरे से जुदा नहीं कर सकते।

इसलिए हमें केवल व्यक्ति अथवा केवल समाज के कल्याण पर बल देने के स्थान पर इनके परस्पर सम्बन्ध को भली प्रकार समझ लेना चाहिए। व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्ध का सब से अच्छा दृष्टान्त जीवन्त देह है। सामूहिक जीवन के शरीर में व्यक्ति जीवकोष्टों के समान स्थिति रखता है। और जीवकोष्टों के समान व्यक्तियों को भी सामूहिक कल्याण के लिए सहकारी हो कर जीना चाहिए। व्यक्ति के लिए समाज का अस्तित्व ऐसा ही आवश्यक है जैसे पौधे के लिए भूमि। भूमि से अलग पौधे की सत्ता ही कहां होगी? किन्तु इसे भूमि में जड़ पकड़ते हुए भी अपने विशेष तथा वैयक्तिक विकास का खुला अवसर मिलना चाहिए।

व्यक्ति तथा समाज का प्रश्न एक तरह से जीवन और उसकी कार्यक्षमता का प्रश्न है। वैयक्तिकता जीवन के विकास पर बल देती है और सामूहिकता का ज़ोर कार्यक्षमता व शक्ति पर होता है। इसीलिए तो वह अपने उद्देश्य प्राप्ति के लिए साधनों की पर्वाह नही रखती। और न ही समाज में विचित्रता तथा द्वन्द्व को सहन कर सकती है। इसे तो समरसता तथा एकरूपता ही प्रिय होती है। किन्तु मानव जीवन के साफल्य का यथार्थ मानदण्ड यह है कि प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने लिए ही जीने के स्थान पर अपनी शक्तियों का स्वच्छंदतापूर्वक सामाजिक कल्याण के लिए प्रयोग करे। तथा इसे अपनी सांस्कृतिक उन्नति के लिए खुली

अनुमति प्राप्त हो। अन्यथा वह अपनी अद्वितीयता लाभ न कर सकेगा।

जीवन न केवल विशेषता में और न केवल सामान्यता में है। बल्कि इन दोनों के सन्तुलन में पाया जाता है। विशेषता की ओर अत्यधिक प्रवणता व्यक्ति को स्वार्थपर व आत्म-केन्द्रित बना देती है। और सामान्यता की ओर अत्यन्त झुकाव मनुष्य को केन्द्र-हीनता और आत्म विस्मरण में ग्रसित कर लेता है। समग्र से विलग हो रहने या उसमें लीन हो जाने से कोई जीवन नहीं। जीवन का चिन्ह तो समग्र से विभिन्न होते हुए भी उसके साथ एक हो रहना है। और जीवन विकास का भी यही अर्थ है कि युगपत समग्र से विभेद और समग्र के साथ ऐक्य का अनुभव बढ़ता चला जाए।

---

१७. मानवता एक है।

भौतिक प्रकृति का अध्ययन सिद्ध कर रहा है कि समस्त जगत् एक है तथा विश्वव्यापी नित्य शक्ति, असंख्य तथा सर्वदा नए से नए रूप धारण कर रही है। 'मैटर', जीवन तथा चेतना इसी शक्ति के विभिन्न रूप ही हैं। और सृष्टि नियम भी इस शक्ति के अन्तर्निहित है। इस पर बाहर से किसी अन्य कर्ता द्वारा आरोपित नहीं किए गए। यह नियम समान स्थिति में सदा वही के वही पाए जाते हैं। जो विकासक्रम का नियम परमाणु के भीतर दृष्टि-गोचर होता है वही विश्व जगत में क्रियाशील है। सभी तत्व तथा प्राणी एक ही मूल तत्व की अभिव्यक्तियाँ हैं। और इसलिए

यह कहना पूर्णतया सत्य है कि समग्र एक है तथा एक समग्र है, जबकि पदार्थों तथा घटनाओं के मध्य अपरिमित विचित्रता तथा द्वन्द्व देखने में आते हैं।

चूँकि विकास क्रम का अर्थ ऐक्य में अनैक्य है और विकास की ऊँचाई के साथ साथ विचित्रता भी बढ़ती चली गई है; तथा मनुष्य इस पृथ्वी पर विकास दृष्टि से उच्चतम पदवी रखता है, इसलिए मानव जगत् में विचित्रता का कहीं अन्त देखने में नहीं आता। व्यक्तियों के मध्य रूप, भाषण, गति, स्वभाव, प्रवणता, योग्यता, क्षमता तथा अभिरुचि में विभिन्नता ही विभिन्नता दीख पड़ती है। और समाज में चरित्र, विचार, इच्छा, मत तथा मनोभाव में इतनी विचित्रता बल्कि प्रतिद्वन्द्वता देखकर यही आशंका होती है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है और राष्ट्रीय तथा जातीय भेद भी मानव ऐक्य को अस्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं।

किन्तु जिस प्रकार बाह्य प्रकृति के अध्ययन ने दिखला दिया है कि न केवल विभिन्न शरीरों, तत्वों तथा परमाणुओं के बीच बल्कि शीतोष्ण, अंधकारालोक, मौन व ध्वनि, ऋणात्मक तथा घनात्मक, निरेन्द्रिय तथा सेन्द्रिय, स्थितिशील तथा गतिशील में भी आन्तरिक ऐक्य पाया जाता है, इसी प्रकार मानव प्रकृति का अध्ययन भी स्पष्ट रूप से दिखलाता है कि अत्यन्त प्रभेद तथा प्रतिद्वन्द्वता रखने वाले मानव जगत् में भी गम्भीर तथा पूर्ण ऐक्य पाया जाता है। यहां भी विचित्रता एक ऊपरी और बाहरी वस्तु है। ऐक्य सभी का आन्तरिक तथा मौलिक तत्व है।

मानव-देह और इससे भी बढ़कर स्वयं मानव मस्तिष्क ही मानव ऐक्य का अत्यन्त ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत करता है। जीवन्त शरीर में अंगों के बीच बनावट, स्वभाव और क्रिया में

अत्यन्त विचित्रता तथा विभिन्नता देखी जाती है। एक ओर मस्तिष्क है, तो दूसरी ओर अन्तड़ियां हैं; एक ओर तो खींचने वाली और दूसरी ओर बाहर धकेलने वाली शक्तियाँ हैं; एक ओर उग्र संवेदन व चेतना और दूसरी ओर संज्ञाहीनता तथा अचैतन्य है। किन्तु इन विभिन्नताओं के होते हुए भी शरीर के सारे अंगों में आन्तरिक सामञ्जस्य देखा जाता है। और यही सामञ्जस्य ही तो चेहेरे पर और अंगों में सौन्दर्य बनकर प्रगट होता है।

जब हम मस्तिष्क की बनावट को देखते हैं तो पता चलता है कि इसमें असंख्य जीवकोष्ट विद्यमान हैं जो आपसी तौर पर विभिन्न तथा द्वन्द्वात्मक क्रियाएँ रखते हैं। प्रत्येक जीवकोष्ट अपनी विशेष तथा अद्वितीय क्रिया रखता है। किन्तु इतनी विचित्रता होते हुए भी मस्तिष्क में एक ही चैतन्य पाया जाता है। मस्तिष्क की बनावट को देखा जाए तो इसमें भेद ही भेद दृष्टिगोचर होता है। और यदि हम चैतन्य पर दृष्टिपात करें तो सभी जीवकोष्टों में पूर्ण एकता दिखलाई देने लगती है।

ठीक यही स्थिति मानव जगत् की है। इसका ऊपरी अध्ययन तो यही घोषित करता है कि जीवन का अटल नियम परस्पर संघर्ष है जिसके बिना जीवन न तो सम्भव है और न रह सकता है। किन्तु मानव स्वभाव का गम्भीर अध्ययन असंदिग्ध रूप से दिखलाता है कि विश्व मानवता वस्तुतः एक अखण्ड तथा प्रकाण्ड जीवित देह है और सारी जातियां इसके अविभाज्य तथा अपरिवर्जनीय अंग हैं और मानो सभी व्यक्ति उसके जीवकोष्ठ हैं। मानव संस्थाओं, व्यवस्थाओं तथा प्रथाओं में कितना ही प्रभेद तथा प्रतिवाद क्यों न पाया जाए, प्रत्येक मनुष्य स्वभावतः सचाई, के लिए जिज्ञासा, भलाई के लिए सम्मान तथा सुन्दरता के लिए प्रशंसा का भाव रखने के लिये बाध्य है।

मानव सत्य एक है। सत्य में वंशीय, राष्ट्रीय व वैयक्तिक विभिन्नताओं का प्रश्न ही नहीं उठता। सत्य के ऐक्य के कारण ही विज्ञान में विश्वव्यापी ऐक्य पाया जाता है। धर्म जगत् में भी विभिन्न मतानुयायी सचाई की ही दुहाई दिया करते हैं। सचाई के लिए खोज में मनुष्य मात्र की एकता है, नहीं तो व्यक्तियों तथा जातियों में विचार-विनिमय व आपसी समझ बूझ की सम्भावना ही न होती। इसी प्रकार ही भलाई भी सभी व्यक्तियों तथा जातियों में कर्म का सामान्य मानदण्ड है। सभी धर्म भलाई का ही समर्थन करते हैं। और प्रत्येक मानव हृदय अपनी गहराई में भलाई के सम्मान के लिए बाध्य है। और सभी लोग अपनी अपनी योजनाओं की स्वीकृति के लिए भलाई से अपील करने के सिवा कोई चारा ही नहीं रखते। यहाँ तक कि बुरे तथा कुख्यात लोग भी अपनी बुराई को नेकी का रंग देने का प्रयत्न किया करते हैं। जहाँ सचाई में सभी व्यक्तियों की बौद्धिक एकता है, वहाँ भलाई में अन्ततः सभी का क्रियात्मक ऐक्य होकर रहेगा। युद्धोन्मत्त जातियां भी अपना दावा पेश करते समय शान्ति तथा भलाई का सहारा लिया करती हैं। कोई व्यक्ति भी बुराई का समर्थक होकर संसार को अपना मुँह दिखाने का साहस नहीं रखता।

इसी प्रकार कला की आत्मा में भी मनुष्य मात्र का मेल है। संगीत, काव्य, चित्रकारी का सौन्दर्य सभी को प्रिय है। फूल सभी को भाता है। चन्द्रमा सभी को अच्छा लगता है और इन्द्र धनुष सब का दिल लुभाता है। कोकिला की मधुर कूक सब दिलों को खींचती है। एक सुन्दर नक्शा सभी को पसन्द आता है। भला कौन है जो ताजमहल को असुन्दर कह सके अथवा गीताञ्जलि के माधुर्य को अस्वीकार कर सके? धर्म भी जब हमारे सामने

स्वर्ग का नक्शा रखता है तो वह भी वस्तुतः सौन्दर्य की तरफ ही अपील करता है।

संक्षेपतः हम देख पाते हैं कि सचाई (विज्ञान), भलाई (नीति) तथा सुन्दरता (कला) में मनुष्य जाति का स्वाभाविक मेल है। समस्त मानव जाति एक अखण्ड सत्ता के रूप में सचाई, भलाई और सुन्दरता की खोज तथा रचना में निरन्तर अग्रसर होती जा रही है।

और अब मानस विकास इस दर्जे तक पहुँच गया है कि सभी ओर से यह माँग उठ रही है कि समस्त पृथ्वी पर एक ही सरकार होनी चाहिए। हम सब एक ही देश (पृथ्वी) के वासी हैं, और एक ही मानव शरीर के अंग हैं। हम सब की आत्मा और हमारा ध्येय एक है। सुख और दुख हमें सचाई, भलाई व सुन्दरता में एक होकर रहने में लिए बाध्य कर रहे हैं।

यह बात भी दिन प्रतिदिन स्पष्ट होती जा रही है कि सचाई या भलाई या सुन्दरता के विकास या अन्वेषण में बाधा का नाम ही बुराई है। पक्षपात भी इसलिए बुरा है कि वह सचाई की खोज में बाधक होता है। स्वार्थपरता निन्दनीय है, क्योंकि वह भलाई की राह में बाधा डालती है; और विषयासक्ति इसलिए घृणास्पद हो गई है कि वह हमें वास्तविक और सहज सौन्दर्य के प्रति अन्ध कर देती है।

सचाई, भलाई और सुन्दरता में समस्त मनुष्य जाति का आध्यात्मिक ऐक्य है। ये तीनों मूल्य एक ही मूल सत्ता के विभिन्न विभाव मात्र हैं। और इसलिए इनमें एक दूसरे से प्रभेद तो किया जा सकता है, किन्तु इन्हें एक दूसरे से बिल्कुल ही अलग नहीं कर सकते।

---

१८. मानवीय आवश्यकताएँ

हमारे दैहिक जीवन की तीन आवश्यकताएँ है :—(क) अन्न (ख) वस्त्र (ग) वास। इनके बिना जीवन की परिणति तो दूर इसकी स्थिति भी दुष्वार है। इसी प्रकार मनुष्य के आन्तरिक जीवन के विकास की भी तीन आवश्यकताएँ हैं। जब तक वे पूरी न हों तब तक हमारा वैयक्तिक व सामूहिक जीवन जड़ात्मक अवस्था में रहेगा। चूँकि मानव विकास हमारा अपना स्वेच्छा-धीन मामला है, और हम स्वयं इसके लिए जिम्मेदार है, इसलिए हमें इन आवश्यकताओं को भली भांति जान कर इनकी पूर्ति के लिए प्रयत्नशील रहना होगा।

(क) मानव जीवन की सर्वप्रथम आवश्यकता **विश्वास** है। जिस प्रकार भूमि के बिना न तो कोई उद्यान लगाया जा सकता है और न ही कोई इमारत खड़ी की जा सकती है, इसी प्रकार विश्वास के बिना हमारा उच्चतर जीवन कोई स्थायी आधार ही नहीं रखता।

किन्तु विश्वास भी दो प्रकार का है। एक अविद्यामूलक, जो जीवन को सहारा देता हुआ भी हमें दास बनाकर दुर्बल तथा दीन-हीन रखता है। दूसरा विश्वास वह समुज्जवल तथा सार तत्व है, जो हमें मुक्त करता हुआ बलवान् बनाता है। आत्म सत्ता के अतिरिक्त किसी अन्य, वास्तविक तथा कल्पित, सत्ता के आश्रित रहना दीन भाव उत्पन्न करके दुर्बलता तथा विवशता को बनाए रखता है। और इसके विरुद्ध आत्म विश्वास स्वातन्त्र्य तथा बल प्रदान करता है।

परम्परागत धर्म पहली प्रकार के विश्वास का प्रसार करता हुआ पुरातन अविद्या का समर्थन करता है। क्योंकि वह सिखलाता

है कि "मनुष्य एक तुच्छ जीव है। वह अपने आप कुछ नहीं कर सकता। न वह अपने को और न ही परिस्थिति को बदलने की क्षमता रखता है। वही होता है जो भगवान को मंज़ूर है। मनुष्य को प्रतिक्षण उसी का सहारा लेकर जीना उचित है, और उसे हर काम में विनयपूर्वक भगवान से सहायता माँगते रहना चाहिए। मनुष्य स्वय सत्य का आविष्कार नहीं कर सकता। सत्य का उजाला तो बाहर से ही प्राप्त किया जा सकता है; और इसका मूल उद्गम ईश्वरीय ज्ञान है जिस पर हमें विश्वास रखना चाहिए। ईश्वरीय ज्ञान के सामने मानव-बुद्धि तुच्छ तथा अविश्वस्त होने से हमारे पथ प्रदर्शन के लिए पर्याप्त नहीं है। आत्म विश्वास ईश्वर विश्वास का विरोधी और एक प्रकार आवरित नास्तिक्य है।" किन्तु आत्मविश्वास रखनेवाला मनुष्य अपनी मानवता के सहारे खड़ा होकर दायित्वपूर्ण जीवन रखता हुआ निश्चय करता है कि "वह स्वयं सत्य का आविष्कार कर सकता है। और उसकी अन्तर्ज्योति ही सर्व सत्य का अन्तिम प्रमाण है। वह अपने को "ज्योतिशां ज्योतिः" निश्चय करता हुआ अपनी सम्भावनाओं की कहीं सीमा नहीं देखता। वह देखता है कि उसकी शक्ति परिमित होने पर भी अनन्त उन्नतिशील है। और इस जगत् में जितनी भी शक्ति विद्यमान है, वह वस्तुतः मनुष्य की अपनी ही शक्ति है, जो मनुष्य के बौद्धिक जागरण की प्रतीक्षा कर रही है। अविद्या में मनुष्य दीन-दुर्बल रहता है, किन्तु वह सृष्टि नियमों को जानकर प्रकृति की अनेक प्रचण्ड शक्तियों को स्व-हस्त-पाद की न्याईं प्रयोग में लाता है। वह अकम्पनीय निश्चय रखता है कि उसकी आत्म सत्ता में अनन्त ज्योति तथा बल का उद्गम है। और इसलिए वह अपनी अवस्था तथा परिस्थिति को बदल सकता है। वह एक सृष्ट पदार्थ ही नहीं अपितु अपने स्वरूप में स्रष्टा भी है। यदि

वह सृष्ट प्रतीत होता है, तो केवल अपनी पैतृक व बाह्य आकृति में ही। भीतर से वह स्वतन्त्र व नित्य-मुक्त है। और अन्धकार को आलोक, बुराई को भलाई, बाधा को शक्ति, कदर्यता को सौन्दर्य, नरक को स्वर्ग तथा दुख को सुख में रूपान्तरित करने को सक्षम है। वह अपने रूप की दृष्टि से तो जगत् का अंश मात्र ही है। परन्तु स्वरूपतः वह स्वयं स्रष्टा है। परिमाणतः वह विश्व जगत् की अपेक्षा एक अत्यन्त क्षुद्र परमाणु के समान है। किन्तु गुणतः वह सारी सृष्टि पर आधिपत्य व श्रेष्ठता रखता है।"

जब तक मनुष्य अविद्याजनित अनात्म-विश्वास रखता अर्थात् किसी अन्य सत्ता के आश्रित होता है, तब तक उसकी आन्तरिक शक्तियाँ पूर्णतः जागृत नहीं हो सकतीं। हाँ, जब वह स्वस्थिति तथा परिस्थिति के लिए स्वयं ज़िम्मादारी लेता हुआ अपने पांव पर खड़ा होता है, तब उसके भीतर उन शक्तियों का प्रादुर्भाव होने लगता है, जिन्हें वह अब तक किसी अन्य सत्ता से आरोप करता चला आया है। यदि मनुष्य एक क्षुद्र जीव है, तो केवल अपने रूप में ही है। अपनी सत्ता में वह अपना ईश्वर, स्वामी तथा प्रभु आप ही है। ईश्वरत्व तथा ब्रह्मत्व इसके निज स्वरूप हैं। कोई भिन्न अन्य सत्ता नहीं। किन्तु इस आन्तरिक दिव्यता का उस समय तक साक्षात्कार नहीं हो सकता, जब तक कि हम समस्त बाह्य अवलम्बनों का परित्याग नहीं कर दें।

आत्मविश्वास को नास्तिकता बतलाना सरासर अविद्या है। जब तक मनुष्य आत्मज्ञान-शून्य है तब तक वह अपने को तुच्छ तथा दुर्बल जानता हुआ बाहर का सहारा ढूँढ़ा करता है। किन्तु जिन बच्चों के अन्दर आरम्भ से ही आत्मविश्वास की रूह फूँक दी जाती है, वह जीवन में सरल-पथ-गामी हो कर अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हैं। और आत्मविश्वास न केवल उनको

शक्तियों को विकसित करता है, अपितु उनमें नवीन तथा अपूर्व शक्तियाँ जगा सकता है।

प्रचलित धर्म सम्प्रदायों के विरुद्ध विज्ञान आत्म-विश्वास का सन्देश देता है। और सचाई के नाते यह कहना ही पड़ता है कि इस जगत् को बदलने में जो काम विज्ञान ने किया है, तथाकथित धर्म उसका दशांश भी नहीं कर सका। अविद्या-कल्पित विश्वास तो एक प्रकार की अफ़ीम है, जिस ने अब तक मानव शक्तियों को सुलाए रखा है। तथा अब भी सुला रही है।

(ख) **आशा**—सच कहा गया है "आशा जिए निराशा मरे।" जहां आशा जीवन को उभारती तथा सहारा देती है, वहां निराशा जीवन को गिराती और उसमें मुरझावट लाती है।

तथाकथित धर्म ने निराशा का संदेश ही दिया है। यदि उसने कोई आशा दिलाई है—तो वह मरने के पश्चात् स्वर्ग में जाने व जन्म-मरण से मुक्त होने में; इसने वास्तविक पार्थिव संसार को भद्रतर तथा आदर्शानुरूप बनाने की कभी आशा नहीं दिलाई। संसार में बहुसंख्यक लोग दरिद्र हैं। धर्म इस दारिद्र को हमारे पूर्व कर्मों का विपाक बतला कर मरणोपरान्त स्वर्ग में जा कर आबाद होने की आशा दिलाते हुए उन्हें जागने ही नहीं देता। यह लोगों में इस मिथ्या विश्वास की अफ़ीम बाँटने में व्यस्त है कि ग़रीबी-अमीरी मनुष्य के वश की नहीं है। इन्हें तो भगवान् ने अपने ही कर कमल में रखा है। वह जिसे चाहे निर्धन और जिसे चाहे धनी बनाता है। और वह जो कुछ भी करता है, न्यायोचित ही होता है; अर्थात् हमारे पिछले कर्मों का फल होता है। इस लिए हमें दारिद्र को भी भगवान् की ओर से ही जान कर उस पर सन्तुष्ट रहना चाहिए और अमीरी में भी उसे धन्यवाद देना चाहिए। और कतिपय धर्म सम्प्रदायों ने बालकवत्

सान्त्वना देने की चेष्टा की है कि ग़रीबी छिपी हुई बरकत है, क्योंकि यह मनुष्य को मदोन्मत्त तथा विलासप्रिय होने से बचाती है। वह धन को एक विषैला सर्प बतलाते हैं, जो आत्मा को विषाक्त कर देता है। इस लिए भगवान् जिनका अध्यात्म-कल्याण चाहता है, उन्हें दारिद्रय से अनुगृहीत करता है।

इस प्रकार के मिथ्या विश्वासों से ही दरिद्र लोग अपने मन को बहलाया करते हैं। किन्तु असल बात यह है कि दारिद्र एक यन्त्रणा है, जो मनुष्य की अविद्या तथा स्वार्थपरता का फल है। कोई मनुष्य भी आज तक ईश्वर की ओर से निर्धन या धनी नहीं बनाया गया। निर्धन और धनी का लज्जाप्रद विभेद हमारी आर्थिक दुर्व्यवस्था का परिणाम है। हम सब का मानव कर्तव्य है कि हम वर्तमान आर्थिक व्यवस्था के सुधार द्वारा ग़रीबी और अमीरी का प्रश्न हल करते हुए प्रत्येक व्यक्ति की जीवन आवश्यकताओं, शिक्षा, यातायात की सुविधाओं की उन्नति तथा आत्म-विकास की ओर पूरा ध्यान दें।

किन्तु संसार में ग़रीब बच्चे होश संभालते ही देखते हैं कि उनके लिए इस पार्थिव तथा वास्तविक जगत् में कोई आशा नहीं। वह केवल परलोक के स्वप्नों द्वारा ही अपने मनों को प्रचा सकते हैं। ऐसी निराशाजनक स्थिति में आत्मविकास रुद्ध हो जाता है, क्योंकि निराशा के कारण जीवन में कोई अभिरुचि नहीं रहती। केवल इसका सहन करते हुए मृत्यु के दिन काटे जाते हैं। सब शक्तियाँ शुष्क तथा विकल हो जाती हैं। भला जहां आशा ही नहीं, वहाँ जीवन में प्रसन्नता और चाव कहाँ होंगे? और जहाँ कोई खुशी या उमंग ही नहीं है, वहाँ जीवन विकास ही क्योंकर सम्भव होगा? हर देश व हर काल में असंख्य व्यक्तियों की इस प्रकार आशाहीन बना कर के उनकी सम्भावनाओं को

बर्बाद कर दिया जाता है । आशा के वातावरण में साधारण बच्चों में से भी असाधारण मनुष्य उत्पन्न हो सकते हैं। किन्तु निराशा की छाया में पोषित होने वाले होनहार बच्चे भी जीने की खुशियों और बरकतों से वंचित रहते हैं।

ज़रा सोचो, कि जिन बच्चों को आरम्भ से ही यह सुनाया जाता है कि "तुम जन्म से ही नीच, अस्पृश्य व अयोग्य हो", उनके लिए जीवन में क्या आशा हो सकती है ? उनकी अपरिमित और अज्ञात सम्भावनाओं को किस प्रकार मूर्तिमान किया जा सकता है ? अतएव माता-पिता, अध्यापकों और शासकों का मुख्य काम यह होना चाहिए कि वह न केवल बच्चों में आत्मविश्वास कूट कूट कर फूँक दें, बल्कि उन्हें संदेश दें कि उन के लिए अनन्त उन्नति तथा प्रसन्नता के द्वार सदा खुले हैं; और उनके भीतर अपनी स्थिति तथा भाग्य को फिर से बदलने की अदम्य शक्ति विद्यमान है।

संसार में विज्ञान ने ही पहली बार यह आशा दिलाई है कि यदि मनुष्य चाहे तो वह अविद्या, दारिद्रय, व्याधि, दासता, अत्याचार, मलिनता तथा कदर्यता को न केवल अपने प्रयत्न से उन्मूलित कर सकता है, बल्कि प्रकृति को भी अपनी इच्छानुसार बदल सकता है। वैज्ञानिक युग में लोग अनुभव करने लगे हैं कि परम्परागत धर्म संसार में वास्तव जागृति लाने के स्थान पर निराशा फैलाता चला आया है। इस ने जीवन कला सिखलाने की बजाए लोगों को दासता, हीनता, दीनता, मिथ्या सन्तोष का ही पाठ पढ़ाते हुए इन्हें कभी आत्मप्रशंसा, आत्मावलम्बन तथा दायित्व की शिक्षा नहीं दी।

(ग) साहस—आत्म विश्वास तथा आशा के साथ मनुष्य में साहस का होना भी परमावश्यक है। अन्यथा वह प्राकृतिक

बाधाओं तथा कठिनाइयों को जीत कर इन्हें अपने दुर्लभ सुअवसरों में बदलने के लिए अक्षम होगा। यह एक जीवन-शास्त्र का महावाक्य है कि "मनुष्य निर्भयता तथा साहस के बिना मनुष्य ही नहीं होता।"

आत्मावलम्बन, आशावाद तथा साहस ही तो जीवन की आध्यात्मिकता के चिन्ह हैं। अपने को नीच तथा तुच्छ जान कर निराश तथा भयभीत रहने में कोई भी आध्यात्मिकता नहीं है। किन्तु साधारण लोग अविद्या के वश में और मिथ्या विश्वासों से प्रभावित हो कर झूठी नम्रता, भय तथा निराशा को ही मुक्ति-साधन मान लेते हैं।

जो पुरुष अपने आप को स्वरूपतः अपरिमित तथा अनन्त निश्चय करता है, वह अवश्य ही आशावादी तथा साहसपूर्ण होता है। वह भय को जानता ही नहीं, क्योंकि भय आत्मविश्वास की न्यूनता का प्रतीक है। आत्म विश्वास और भय कदापि एकत्रित नहीं हो सकते। और चूँकि आत्मविश्वास (स्वालम्बन) से वंचित व्यक्ति ही जीवन की परिभाषा में नास्तिक होता है, अतः भय भी नास्तिकता का लक्षण है। ईश्वर से भी हमें केवल उस समय डर लगा करता है जब हम उसे अपने मुकाबिले में एक अन्य सत्ता मानते हों। प्राचीन ऋषियों ने जीवन के एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य की घोषणा की थी जब कहा था कि,

"द्वितीयाद्वै भयं भवति"

"द्वैत भाव से ही डर की उत्पत्ति होती है।"

संसार में तीन बड़े भय पाए जाते हैं। (क) ईश्वर का भय (ख) मृत्यु का भय (ग) लोकमत का भय। किन्तु आत्मवित् पुरुष इनमें से कोई भय नहीं रखता, क्योंकि वह (क) ईश्वर को केवल अपना आप "मानता" ही नहीं, अपितु साक्षात् "जानता" है।

(ख) वह खूब समझता है कि जो "सत्य" है उसके लिए अभाव नहीं है, और हम सब का अपना आप (सर्वभूतान्तरात्मा) सब प्रकार के भावों तथा अभावों का अन्तिम प्रमाण है, क्योंकि सभी न्याय्यक प्रमाण आत्मज्योति से प्रकाशित व सिद्ध होते हैं। और (ग) वह लोकमत से इसलिए नहीं डरता कि वह अपनी उस गम्भीरतम सत्ता के प्रति वफ़ादार होता है जो सर्वभूतात्मा है। इस अन्तरात्मा के साथ तन्मयता स्थापित होते ही विश्व जगत् से भी अनुकूलता हो जाती है।

साहसपूर्ण होना आध्यात्मिक व उच्च जीवन का अभ्रान्त चिह्न है। शायद शीतोष्ण, अन्धकारालोक तो कभी एकत्रित हो जाएं, किन्तु कापुरुषता तथा आध्यात्मिकता कभी इकट्ठे नहीं रह सकते।

संसार में दुख तथा अनेक प्रकार की बाधाओं को देखकर इससे उदासीन तथा अलग थलग हो रहना एक प्रकार का कापुरुषोचित पलायन है। सम्यक् आत्मज्ञान डरना तो दूर रहा, दुख को सुख और कठिनाइयों को सुविधाओं तथा बाधाओं को सुअवसरों में परिवर्तित करने का रासायनिक प्रभाव रखता है। स्वरूपतः जागृत लोग तो सुख तथा सुरक्षा चाहने के स्थान पर अपने लिए आशंकापूर्ण जीवन को वरण करते हैं। आशंकापूर्ण स्थितियों का बुद्धिमानता के साथ सामना करना आत्मशक्ति को जगाता है।

संसार में दुखों, कठिनाइयों तथा बाधाओं का पाया जाना वास्तव में हमारे लिए एक दुर्लभ बरकत है, जब कि उनकी ओर हमारा दृष्टिकोण ठीक हो। क्योंकि उनके नाते ही हम अपनी आध्यात्मिक शक्ति तथा जागृति का अनुमान लगा सकते हैं। उस मनुष्य से बढ़कर कौन अभागा होगा, जिसे दुख, कठिनाइयों तथा

बाधाओं का सामना करने का सुअवसर ही प्राप्त नहीं हुआ। किन्तु स्मरणीय है कि दुख, कठिनाइयों, बाधाओं के आगे झुक जाने में कोई जीवन नहीं है।

हम यहां आध्यात्मिक संग्राम के लिए हैं, पाशविक युद्ध के लिए नहीं। हमें तो झूठ, बुराई, कुरूपता, अत्याचार, कुसंस्कारों, अलीक भ्रमों तथा जीर्ण शीर्ण संस्थाओं का डटकर प्रतिवाद करना होगा। हमें आलोक तथा अन्धकार, अनुराग तथा विद्वेष, न्याय तथा अन्याय, शान्ति तथा अशान्ति स्वास्थ्य तथा व्याधि के बीच लड़ाई लड़नी होगी। मानव जीवन ही धर्म क्षेत्र है, और उसमें उपर्युक्त धर्मयुद्ध करना ही जीवन है। केवल उदासीन शान्ति, आत्मस्थिति तथा संसार त्याग में कोई जीवन अथवा सफलता नहीं है। विरक्ति तथा पलायन का मार्ग भीरु तथा भीत लोगों के लिए ही है।

शिक्षा का मुख्य प्रयोजन यही होना चाहिए कि बच्चों में स्वावलम्बन, आशा तथा साहस की रूह फूँक दी जाए और उनकी रग रग में "अहं ब्रह्मास्मि" का मन्त्र ध्वनित हो। दासता, निराशा तथा भय को आमूल नष्ट कर दिया जाए। उनके दिलों में जीने के लिए अभिरुचि हो। और वह स्वप्न में भी संसार से भागने या मुक्त होने का ख्याल दिल में न ला सके।

केवल आत्मज्ञान तथा विज्ञान का समन्वय ही इस काम का अति उत्तम रूप से सम्पादन कर सकता है। मगर अब तक आत्मज्ञान विज्ञान से बेख़बर चला आया है। और विज्ञान वेदान्त की ख़बर नहीं रखता। इन दोनों के समन्वय और सहयोग में ही पूर्व पश्चिम का मिलाप होने पर मानव जगत् में नवयुग का आविर्भाव होगा।

---

१९. स्वर्ग का बीज

संसार में अनेक प्रकार के बीज पाए जाते हैं। और बीजों के उगने का सर्वसाधारण नियम यह है कि किसी प्रकार का बीज भूमि में आरोपित होकर स्वप्रकाश के लिए उस भूमि में से उपयुक्त द्रव्य ग्रहण करता हुआ पनपने और बढ़ने लगेगा। और अपनी परिणति की समाप्ति पर स्वयं ही परिपक्व फल के रूप में फिर से प्रगट हो जाएगा। बीज अपने रूप में तो अपने वेष्टन से प्रभावित होकर बदलता हुआ दिखाई देता है, किन्तु इसका असली काम अपने वेष्टन को अपने स्वभावानुकूल और स्वरूप में बदलना है। वह अपने बाहरी रूप को कुर्बान करके ही अपने विशेष स्वभाव अथवा स्वरूप का प्रकाश कर सकता है। और जिस बीज को अपने रूप में मिट जाना मंज़ूर नहीं है, वह अपने स्वभाव को अपने वेष्टन पर अंकित नहीं कर सकता। बीज के प्रस्फुटित तथा विकसित होने का अर्थ स्वप्रकाश से इतर कुछ नहीं। और विशाल दृष्टि से देखा जाए तो प्रत्येक जीवन का केन्द्रिक गुण आत्मप्रकाश ही दिखाई देगा। और यह आत्मप्रकाश अपने बाह्य रूप का त्याग करने और वेष्टन को अपने आन्तरिक रूप में परिवर्तित करने से ही सम्भव होता है।

यदि कोई बीज बाह्य रूप को त्यागता हुआ भी वेष्टन को अपने स्वभावानुकूल न बदल सके तो वह जीवित नहीं कहला सकता। जीवन कभी और किसी अवस्था में भी गतिहीन तथा निष्क्रिय अवस्था में नहीं रह सकता। जीवन केवल होने का नाम नहीं है। जीवन में परिणति तथा रचना शक्ति का होना आवश्यक है। सर्व जीवन का सार तत्व यह है कि यह निर्दिष्ट तथा पूर्वनिरूपित रूप से कड़ेपन के साथ भविष्यवाणी का विषय होने के

स्थान पर सहज स्वतन्त्र, विभिन्नतापूर्ण तथा शानदार रंगारंगी से भरपूर हुआ करता है। यह सर्वदा अपना कोई न कोई प्रयोजन रखता हुआ सदा आगे की ओर अग्रसर होता है, और स्वभावतः प्रभावशाली तथा सबल होने के अतिरिक्त जिस वस्तु को भी छूता है, उसमें अपने स्वभावानुसार परिवर्तन लाता हुआ प्रत्येक उद्दीपक का सक्रिय रूप से उत्तर देता है।

एक उदाहरण लीजिए। गुलाब का बीज भूमि में पड़कर अनुकूल घटनाओं में अपने आन्तरिक स्वभाव व स्वरूप में परिवर्तित करने लगता है। कीच, दुर्गन्ध तथा कदर्यतापूर्ण क्षेत्र में जन्म लेता हुआ भी अपने वेष्टन को श्यामलता, फूलों के सौन्दर्य और सौरभ में बदल डालता है। निस्सन्देह वह बाहर से द्रव्य लेता है। किन्तु वह इस द्रव्य को ग्रहण करके इसे अपने स्वभावानुकूल नया रूप तथा मूल्य प्रदान करता है। और रूप दृष्टि से अपनी मृत्यु को आमन्त्रित करता हुआ स्वरूपतः नवजीवन पाकर अपनी अपनी एक नूतन सृष्टि रच लेता है।

मनुष्य भी तो अपने स्तर पर एक प्रकार का बीज ही है, और यदि इसकी आन्तरिक उमंगें तथा आकांक्षाओं को देखकर इसे स्वर्ग का बीज कहा जाए तो अनुचित न होगा। सभी प्राणियों के मध्य केवल मनुष्य को ही स्वर्ग (आदर्श जगत्) ख्याल आया करता है। और उसका हृदय भी आदर्श जगत् के लिए अमिट तड़प रखता है। इसे अपनी वर्तमान परिस्थिति, जिसमें इतनी अविद्या, बुराई, कदर्यता दुख तथा बन्धन पाए जाते हैं, पसन्द ही नहीं है। किन्तु वह अपनी प्राक्-विज्ञान अवस्था में अपने वास्तविक अनुभव से यह समझकर कि वह इस प्रकार जगत् को अपनी अल्प शक्ति द्वारा सुधारने में असमर्थ है, अपने मन को प्रचाने के लिए आसमानी दुनिया में एक कल्पित आदर्श जगत् रचकर

मरणोपरान्त उसमें जाकर बसने की बालकवत आशा रखता है।

किन्तु, इस पृथ्वी पर मानव जीवन केवल यही अर्थ तथा उद्देश्य रखता है कि वह अब और यहां अपनी राह से स्वर्ग को मूर्तिमान करे। इसी रचनात्मक क्रिया में ही मनुष्य का सच्चा मोक्ष, शान्ति और आनन्द पाए जाते हैं। इस प्रकार की रचना के सिवा मानव जीवन और कोई भी अर्थ या उद्देश्य नहीं रखता। यह स्वर्ग का बीज ही पृथ्वी पर सचाई, भलाई तथा सुन्दरता के मूल्य जगत् की रचना कर सकता है। वह परलोक की तैयारी के लिए यहां नहीं भेजा गया। वह तो यहीं अपनी प्रकृति माता से जन्म लेकर जीवन के बौद्धिक, नैतिक, कलात्मक तथा आध्यात्मिक विकास के लिए प्रगट हुआ है। अपरंच, मनुष्य केवल स्वर्ग का बीज ही नहीं, इस पृथ्वी पर जीवन का अन्तिम फल भी है।

कच्चा बीज कुछ पैदा नहीं कर सकता। वह जीवित होने पर भी रचनात्सक शक्ति नहीं रखता। किन्तु पक्का बीज अपने रूप में सृष्ट, किन्तु अपने स्वरूप में स्रष्टा होता है। उस ने जिस वृक्ष से जन्म लिया है, उसके सदृश अनेक वृक्ष उत्पन्न कर सकता है। यही स्थिति मनुष्य (स्वर्गीय बीज) की है। जब तक वह कच्चा है अर्थात् जब तक वह अपने आप में जाग कर अपनी अनन्त सम्भावनाओं की खबर नहीं रखता, उस समय तक वह भी एक सृष्ट वस्तु मात्र ही है, वह स्वयं वेष्टन के सहारे जीता हुआ नवसृष्टि रचने की क्षमता नहीं रखता।

किन्तु पक्का मनुष्य जिसमें आत्मचैतन्य, बुद्धि, कल्पना-शक्ति और दायित्व प्रचुर मात्रा में विकसित हो चुके हैं, अपने लिए यथेष्ट सृष्टि रच सकता है और वह अपनी यथेष्ट रूप में स्वरचित सृष्टि को अपना स्वर्ग मानता है। जैसा कि पहले कहा जा जा चुका है, प्राकृत जगत् इस नव-निर्माण के लिए कच्चा मसाला

(उपकरण) पेश करता है। बुद्धि सृष्टि नियमों के आविष्कार और यान्त्रिक रचनाओं द्वारा इस मसाले पर नियन्त्रण प्राप्त करती है। कल्पना शक्ति आदर्श जगत् की रूपरेखा का उपहार हमारी भेंट करती है और हमारी अदम्य इच्छा शक्ति किसी बाधा या विघ्न के आगे सिर नहीं झुकाती।

मानव परिपक्वता का एक अभ्रान्त चिह्न यह है कि वह अपने को इस रचना शक्ति के साथ एक जानता है, जो विश्व जगत् को सत्ता सम्पन्न करती है। वह केवल अपने रूप में ही एक तुच्छ परिमित रचित जीव प्रतीत होता है। किन्तु वह यह अपरोक्षानुभूति रखता है कि वह स्वयं सार तत्व (आत्मा, ब्रह्म) है, वह रूप में अंश किन्तु स्वरूप में समग्र है, इसका रचियता उससे बाहर या उससे इतर नहीं है, वह स्वयं ही अपने वास्तव स्वरूप में सर्व स्रष्टा है, व्यक्ति तथा समाज उसके अपने ही दो ध्रुवात्मक विभाव हैं, स्वरूपतः वह न जीव है न ईश्वर। मनुष्य ने आज तक जो बड़े से बड़ा रहस्योद्घाटन किया है, और जिसके सम्मुख आन्विक शक्ति का आविष्कार भी तुच्छ प्रतीत होता है, यह है कि

"अयमात्मा ब्रह्म ॥"

"यह आत्मा (ही) ब्रह्म (मूल सत्ता) है ॥"

यावत् मनुष्य अपने आप को नहीं जानता; वह समुन्नत तथा सुसभ्य होकर भी अपक्व ही रहता है। और अपने भीतर से अपने चतुर्दिक आदर्श जगत् का निर्माण करने में सफल नहीं हो सकता, क्योंकि उसे अपनी वास्तविक स्थिति तथा स्थान की सुध ही नहीं होती।

किन्तु इस अवसर पर इस महत्वपूर्ण तथ्य का समझना आवश्यक है, कि पृथ्वी पर स्वर्ग-निर्माण एक व्यक्तिगत मामला

नहीं है। सामूहिक जागृति तथा पक्वता से ही यह महान् कार्य सम्पन्न होता है। इसके लिए शिक्षा में भी आमूल परिवर्तन अपेक्षित हैं। वह शिक्षा जो मनुष्य को अल्प, तुच्छ, क्षुद्र जीव बतलाती हुई इसे आत्म निर्भरता से वंचित रखती है, इस में स्वर्ग निर्माण के लिए दायित्व का भाव नहीं भर सकती। केवल आन्तरिक शक्तियों का जागरण ही बाह्य स्वर्ग रचना को सम्भव बना सकता है, जब कि उसके साथ साथ सभी व्यक्तियों तथा जातियों में सहकारिता पाई जाए। और तभी विज्ञान की विस्मयकर तथा निरन्तर उन्नतिशील शक्ति ध्वंसात्मक उद्देश्यों के स्थान पर रचनात्मक कार्यों में प्रयुक्त हो सकेगी। व्यक्तिगत प्रयत्न से मनुष्य केवल अपने मस्तिष्क के किसी कोने में व्यक्तिगत स्वर्ग रच सकता है। और चूँकि जीवन अपने वेष्टन से सम्बद्ध हुए बिना नहीं रह सकता, इस लिए व्यक्तिगत स्वर्ग-निर्माण करने वाले लोगों को अपने वेष्टन के अन्तर्गत वास्तविक नरक का भी भागी होना पड़ता है। मानव जीवन की समस्या तभी यथेष्ट रूप से हल हो सकती है, कि जब इसे युगपत् वैयक्तिक तथा सामूहिक रीति से हल करने का प्रयत्न किया जाए। इस में सफलता-प्राप्ति के लिए संस्कृति तथा व्यवस्था आवश्यक हैं। और जब कि संस्कृति प्रायः एक व्यक्तिगत मामला है, व्यवस्था एक सामूहिक प्रश्न है।

---

२०. नई दुनिया की नई मान्यताएं

मनुष्य ने इस पृथ्वी पर जिस नए आदर्श जगत् की रचना के लिए जन्म लिया है, अब उसके निर्माण का समय आ गया है। विज्ञान ने परिस्थिति को बिल्कुल बदल डाला है। मनुष्य की शक्ति अत्यधिक बढ़ जाने से प्रकृति की प्रचण्ड तथा भयावह शक्तियाँ दिन प्रति दिन उसकी अनुगत होती चली जा रही हैं। देश काल के व्यवधान घटते और मिटते जा रहे हैं। प्रैस, टेलिफोन, टेलिविज़न, वायरलैस रेडियो तथा यातायात की अपूर्व सुविधाओं से विचार बड़ी तेज़ी के साथ प्रसारित हो रहे हैं। आज पृथ्वी के किसी कोने से कोई व्यक्ति बोलता या गाता है तो उसे सारी दुनिया सुन सकती है। दिन प्रति दिन नए से नए आविष्कार तथा यन्त्र निर्माण हो रहे हैं। शारीरिक श्रम का बोझ हल्का हो गया है। विभिन्न जातियों, धर्म-सम्प्रदायों तथा दर्शन धाराओं में आपसी लेन देन जारी है। प्राचीन मतों तथा मान्यताओं पर निर्भीकतापूर्वक कड़ी आलोचना हो रही है। धारणाओं तथा दृष्टिकोणों में क्रान्तियों का बाढ़ आ रहा है। बुद्धि की प्राधान्यता ने अपना सार्वभौमिक राज्य स्थापित कर लिया है। कभी मनुष्य केवल खुश्की पर ही चलता था। फिर समुद्र में मछलियों के समान तैरने लगा और अब तो उसने समुद्र के अन्तस्थलों को भी छान मारा है। और वायुमण्डल में तथा उससे भी ऊपर सदा बढ़ती हुई गति के साथ उड़ने लगा है। महीनों की यात्राएँ घंटों में तय हो रही हैं, और सम्भवतः शीघ्र ही मिनटों में तय होने लगेंगी। और अब पहली बार उसे ख्याल आने लगा है कि चाँद तथा अन्य ग्रहों का भी पर्यटन किया जाए।

इस नई और तेज़ी के साथ बदलती हुई दुनिया में पुराने धुयने विचार रह नहीं सकते। पहले से ही इनका वाष्पी-

करण आरम्भ हो चुका है। नया और भद्रतर संसार (पार्थिव स्वर्ग), जिसे हमने सत्ता सम्पन्न करना है, नए विचारों व नई मान्यताओं की दुनिया होगा। सचाई, भलाई व सुन्दरता के परम मूल्यों के सिवा बाकी सभी मानवरचित मूल्यों का अतिक्रान्त परिवर्तन हो जाएगा।

किन्तु इन नित नए परिवर्तनों से डरने की कोई आवश्यकता नहीं है। हमें मुक्तहृदय तथा रचनात्मक आलोचना के साथ इनका अध्ययन करते हुए सचाई को ग्रहण करने के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए। और पुरातन मान्यताओं के विषय में अलंघ्यता का ख्याल बिल्कुल छोड़ देना चाहिए। जीवन विकास की माँग तो यह है कि हम नवीन मान्यताओं की जाँच-पड़ताल के लिए तैयार रहें। जीवनआनन्द अनुकरण के स्थान पर निरन्तर नवीनीकरण में है।

जीवन विकास का आगामी रुख दिखलाने के लिए हम कतिपय पुरातन मान्यताओं और उनके मुकाबिले में नए दृष्टिकोणों को पेश करेंगे।

(क) अब तक तो विश्वास का अर्थ अतिप्राकृतिक में विश्वास समझा जाता रहा है। आत्मावलम्बी पुरुष को उद्धत तथा धर्महीन समझा जाता था। मुश्किल से ही किसी को यह कहने का साहस होता था कि "मैं हूँ", "मैं जानता हूँ", "मैं कहता हूँ", "मैं करूँगा", "कर के दिखलाऊँगा"। साधारण लोग इस विश्वास में ही धर्मभाव देखते थे कि "मैं कुछ नहीं हूँ", "मैं कुछ नहीं जानता", "मैं कुछ नहीं कर सकता", "भगवान् ही सब कुछ है", "वही सब कुछ जानता और करता है", व "हमारे पूर्वजों ने ऐसा कहा है।" "हमारे धर्म ग्रन्थ ऐसा कहते हैं।" "वही कुछ होगा जो मालिक को मंजूर होगा।"

किन्तु नई दुनिया में जीने की बुनियाद आत्म-गौरव पर

होगी। मनुष्य अपनी सत्ता से इनकार करने या अपने होने से शरमाने की बजाए गौरव के साथ इसे स्वीकार करता हुआ अपनी अन्तरात्मा को ही अन्तिम प्रमाण निश्चित करेगा। वह सभी मतों और ग्रन्थों का आप ही निर्णायक होता हुआ यह कहने से कभी नहीं झिझकेगा कि "मैं जानता हूँ" और "मैं कहता हूँ"। और न ही वह कर्त्तत्व तथा दायित्व से इनकारी ही होगा। अपितु वह संसार में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने के लिए प्रवृत्त होता हुआ अपने पाँव पर खड़ा होकर सामने देख सकेगा। वह दूसरे लोगों का यथोचित सम्मान तो करेगा, किन्तु किसी के आगे झुकना या किसी की पूजा करना उसके लिए असह्य होगा।

(ख) पिछले युगों में दीनता तथा हीनता पर बल दिया गया था और आज भी अपने आप को नीच, तुच्छ, नगण्य बतलाना सौभाग्य की पूँजी माना जाता है। किन्तु नवयुग में साम्यता, आपसी सम्मान तथा आत्म प्रशंसा पर ज़ोर होगा। सभी व्यक्ति तथा जातियाँ न तो अपने को दूसरों से उच्चतर जानेंगी और न नीचतर। प्रत्येक व्यक्ति की अद्वितीयता तथा अतुलता पर दृष्टि रखते हुए इसे साधन के स्थान पर साध्य समझा जाएगा और किसी के आगे झुकने, हाथ जोड़ने, एक टाँग पर खड़े होने, चरण छूने व चूमने, चरणधूलि माथे या होठों पर लगाने, अष्टांग दण्डवत् करने, अपने को अधम और दूसरों को श्रेष्ठ मानने को मानसिक व्याधि के चिह्न समझा जायगा। यहाँ तक कि देव के सम्बन्ध में भी, जो कि मनुष्य की सम्भाव्य पूर्णता का प्रतीक है, इन दासोचित रीतियों का परित्याग कर दिया जाएगा।

प्रत्येक व्यक्ति की अन्तरात्मा ही परमात्मा है। अपने से बाहर या अपने से ऊपर नहीं। परमात्मा के सम्बन्ध में ऐसी

ज्ञानमूलक धारणा आत्मप्रशंसा को बढ़ाती हुई पुराने कुबड़ेपन को दूर कर देगी। इसमें तनिक सन्देह नहीं कि बाह्य ईश्वर की धारणा भी अज्ञान में सहारा दिया करती है। किन्तु यह हमारी अविद्या और दुर्बलता को दूर नहीं होने देती। इसके विपरीत आन्तरिक ईश्वर (परम आत्मा) की धारणा उभारने तथा बलवान् बनाने का प्रभाव रखती है। पुरातन तर्ज़ की भक्ति दासता की ड्रिल के सिवा कुछ नहीं। हमें अब नवयुग में आत्मप्रशंसा तथा आत्मनिर्णय की ओर लगातार आगे बढ़ना होगा।

(ग) अब तक आत्म-समर्पण को ही भक्तिसार माना गया है। ऐसा होना स्वाभाविक था, क्योंकि पिछले युगों में न तो आत्मज्ञान का उजाला सर्वत्र फैला हुआ था और न ही मनुष्य को वह परम अद्भुत वैज्ञानिक शक्ति लब्ध थी, जो अब उसे प्राप्त है। वह तो सृष्टि की भयानक तथा महान् शक्तियों को देख कर कम्पित होता हुआ इनमें व्यक्तित्व आरोपित करके उन्हें प्रसन्न करने के साधन सोचा करता था और वह अपने को अत्यन्त क्षुद्र निश्चय करने के अतिरिक्त कोई चारा ही न देख पाता था। किन्तु अब मनुष्य अपनी शक्ति में जाग कर देखने लगा है कि समस्त प्राकृतिक शक्ति वस्तुतः उसकी अपनी ही शक्ति है, जो उसके जागने पर उसकी सेवा का अवसर पाने की प्रतीक्षा में है। वह अपनी आत्मसत्ता में स्वयं ही शक्तिमान तथा स्रष्टा है। और अब वह देखने लगा है कि दायित्वहीन आत्मसमर्पण शैशव मन का चिन्ह है। माता-पिता के आगे शिशु का आत्मसमर्पण एक स्वाभाविक बात है। किन्तु परिपक्व अवस्था में तो इसे आत्मसमर्पण के स्थान पर दायित्व का जीवन व्यतीत करना होगा। आत्म समर्पण का शैशव सिद्धान्त मानव परिपक्वता में बाधक है। यावत् हम अपने स्वरूप से अपरिचित थे, तावत् आत्मसमर्पण एक

स्वाभाविक बात थी। किंतु अब यह मानव जाति की भावी प्रगति में कठोर बाधा हो रहा है। जब तक इस पृथ्वी पर मनुष्य का आविर्भाव न हुआ था, तब तक तो विकास नियम अज्ञात रूप से काम करता था। किन्तु मनुष्य के अभ्युदय पर इसे मानव चेतना की राह से अपनी सांस्कृतिक अट्टालिकाएँ स्वयं ही निर्मित करनी होंगी। दूसरे शब्दों में यह कहना ठीक होगा कि भावी विकास मनुष्य के अपने हाथ में है। अब निर्भरशीलता की अवस्था से ऊपर उठ जाने पर उसका जीवन रचना तथा दायित्व में है। अपने दायित्व को सँभाले बिना वह न केवल अग्रसर हो सकेगा, अपितु उसकी अपनी सत्ता भी सुरक्षित न होगी।

(घ) आज तक मनुष्य को प्रायः यही शिक्षा दी गई है कि "मनुष्य जीवन की सफलता स्वेच्छा को भगवतेच्छा में विलय कर देने में है। क्योंकि मनुष्य का अपना कुछ नहीं। वह तो सम्पूर्णतः भगवत्सम्पत्ति होने से भगवतेच्छा की पूर्ति के लिए जीता है। ऐसा करने से उसे परलोक में ईश्वर-सहवास प्राप्त होगा व स्वर्ग में स्थान मिल जायगा।" किन्तु नव जागरण की ज्योति में यह सिद्धान्त टिक नहीं सकता। हम तो यहाँ अपना जीवन बसर करने तथा अपना जीवन परिपूर्ण करने के लिए हैं। और हमारा कर्त्तव्य मानव भाग्य को सुधारना और इसी दुनिया को प्रसन्नतर बनाना है। मनुष्य किसी भी प्रभु का दास नहीं है। उसकी सत्ता स्वतः सिद्ध तथा स्वयं प्रकाश है; और जिस प्रकृति को अपने चतुर्दिक् पाता है वह भी कोई अन्य सत्ता नहीं, उसकी अपनी शक्ति, अपना विस्तार, अपनी विभूति तथा अपनी ही शोभा है। इसे तो प्रकृति द्वारा अपनी नित नई पूर्णताओं के प्रकाश में ही चिर नवीन प्रसन्नता उपलब्ध करनी होगी।

सृष्टि नियम भी हमारे सिरों पर सत्ता रूढ़ होने के स्थान पर हमारी अपनी ही प्रकृति व शक्ति के अपने नियम ही हैं। मनुष्य

स्वरूपतः नित्यमुक्त है। किन्तु अपने संघात में अपनी ही विश्व-व्यापी प्रकृति के नियमों के अधीन है। और उसका यह जन्माधिकार है कि वह इन नियमों को जान कर इनकी अनुगति द्वारा इन्हें मानवोद्देश्यों के लिए प्रयोग में लाए। इस प्रकार उसकी बौद्धिक तथा क्रियात्मक अनुगति भी उसके आध्यात्मिक आधिपत्य का साधन बन जाती है। भला इस तथ्य की ओर से कौन आँखें मूँद सकता है कि हमारे शरीर तथा मन को प्राकृतिक तथा जीव-विज्ञान सम्बन्धी नियमों का अनुयायी रहना होगा। किन्तु हमारी आत्मा तो इन्हीं नियमों को अपने आध्यात्मिक उद्देश्यों के लिए काम में लाएगी। मानवता की यही रासायनिक शक्ति ही उसकी बाह्य अनुगति को आन्तरिक आधिपत्य और वास्तविक बन्ध को जीवित मोक्ष में परिणत कर देती है। हमारी प्रकृत मानवता जो कुछ सिर पर गुज़रे उसे सहने में नहीं, मानव जीवन के विशेष गुण आविष्कार, रचना, योजना, तथा सहकारिता हैं। इन्हीं गुणों के नाते वह भौतिक प्रकृति को अपने नियन्त्रण में लाता हुआ इन्हें अपनी इच्छा से अवैयक्तिक उद्देश्यों की सेवा में लगा सकता है। इसकी मानवता जीवन के सहन मात्र में या जो सिर पर गुज़रे उसी में सन्तुष्ट रहने के स्थान पर विद्रोह, पुनर्निर्माण तथा नवीनीकरण में है।

(ङ) आज तक हमारी सभ्यता आपसी संघर्ष के पाशविक नियमानुकूल रही है। यही संघर्ष उग्र तथा विस्तृत रूप धारण करके युद्ध का कारण बनता है। किन्तु अब लोग इस महत्वपूर्ण तथ्य की ओर जागने लगे हैं, कि हमारी सभ्यता की स्थापना पारस्परिक सहायता व सहकारिता पर होनी चाहिए। व्यक्ति तथा जातियों के मध्य सम्यक् सम्बन्ध का नाम ही सभ्यता है। आपसी संघर्ष से उत्पन्न होने वाली लड़ाइयाँ अब इतनी भयानक व

विनाशकारी रूप धारण कर चुकी हैं, कि अब तो सारी मानव जाति ही खतरे में है। निस्सन्देह विज्ञान शक्ति देता है, किन्तु यदि विज्ञान-प्रदत्त शक्ति परस्पर सहकारिता के स्थान पर आपसी संघर्ष में लगा दी जाए, तब विज्ञान भी एक अभिशाप मात्र रह जाता है। परन्तु यदि हम अपनी शक्तियों को परस्पर सहायता के लिए बरतने लगें तब विज्ञान भी इस दुनिया में बड़ी से बड़ी बरकत हो सकता है। इससे स्पष्ट होता है कि वैज्ञानिक उन्नति के साथ नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति का होना भी आवश्यक है। आजकल हमारा विज्ञान तो लगातार बढ़ता चला जा रहा है। किन्तु हमारी नीति पुरानी धुरानी है। और जब विज्ञान ने सारी दुनिया को आर्थिक व यान्त्रिक रूप से एक कर दिया है, हमें नैतिक और आध्यात्मिक रीति से भी एक होना होगा। यह आन्तरिक मिलाप आपसी संघर्ष तथा शोषण के स्थान पर परस्पर सहायता तथा सहकारिता के सिद्धान्त को स्थापित करेगा। तब युयुत्सा का पैत्रिक भाव बाह्य पदार्थों के स्थान पर सांस्कृतिक उद्देश्यों के लिए बरता जाएगा अर्थात् हम सम्पत्ति, शक्ति तथा मान मर्यादा के लिए परस्पर संघर्ष के स्थान पर बौद्धिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक गुणों में एक दूसरे से आगे बढ़ने के लिए यत्नशील होंगे और इस प्रकार की सांस्कृतिक उन्नति मानव जाति की सामूहिक सम्पत्ति होगी।

(च) आगामी युग में मुक्ति के स्थान पर प्रसन्नता हमारा लक्ष्य होगी। हम दुख भरे संसार से मुक्ति की इच्छा रखने की बजाए सामूहिक प्रयत्न से इसी संसार को ही प्रसन्न से प्रसन्नतर बनाने के इच्छुक होंगे। संसार में दुख का बाहुल्य देख कर आज तक हम भागने तथा जान छुड़ाने की चेष्टा करते आए हैं। किन्तु अब विज्ञान ने इस नई आशा को जन्म दिया है कि मनुष्य अपनी बुद्धि, कल्पना शक्ति तथा पुरुषार्थ द्वारा इस जगत् को बदल सकता है। कोयले को उजाले, बाधा को शक्ति, खाद को सुगन्धि, विष

को अमृत, पाशविकता को मानवता और कदर्यता को सौन्दर्य में परिणत कर सकता है। और इसलिए अब समय आ गया है कि मनुष्य जीवन से मुक्ति पाने की बजाए स्वयं जीवन को उसके बन्धनों तथा सीमाओं से मुक्त करता हुआ, इसी जीवन तथा इसी पृथ्वीपर परम आनन्द प्राप्त करेगा।

इस निरतिशय आनन्द का रहस्य अपरा प्रकृति की बजाए परा प्रकृति में अपने धन तथा शान्ति की खोज है। अपरा प्रकृति में आनन्द की क्षणिक झलकें तो मिल सकती हैं, किन्तु इनसे पहले शून्यता और बाद में दुख और विषाद पाए जाते हैं; जब कि परा प्रकृति विशुद्ध आनन्द का अखुट भण्डार है। वस्तुतः हमारा जीवन क्षेत्र ही परा प्रकृति है, जब कि अपरा प्रकृति तो परा प्रकृति के प्रकाशन का साधन मात्र ही है। हमारी मानवता इसी बात में है कि हम अपने जीवनोद्देश्यों को अपरा प्रकृति से से परा प्रकृति में स्थानान्तरित कर दें। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हम अपरा प्रकृति से अपना सम्बन्ध तोड़ने या इसे बिल्कुल भुला देने का प्रयत्न करने लगें। यह बात सर्वदा स्मरणीय है कि अपरा प्रकृति द्वारा ही परा प्रकृति का प्रकाशन हो सकता है। प्रकाशन के बिना जीवन ही कहाँ? यदि संगीतकार गला या कोई वाद्य न रखता हो तो वह अपनी राग विद्या का प्रदर्शन करेगा ही कैसे? अपरा प्रकृति को माया कह कर इससे अपना सम्बन्ध काट लेना एक प्रकार का आत्मघात ही है। हमें तो चाहिए कि हम अपरा प्रकृति का त्याग करने के स्थान पर विज्ञान द्वारा इसे वश में लाकर मानवोद्देश्यों की सेवा के लिए काम में लाएं।

अब तक हम संसार में केवल बाह्य सुखों में ही आनन्द ढूँढ़ते रहे हैं। किन्तु मानव जीवन का स्थायी तथा पूर्ण आनन्द परस्पर सहायक होने तथा भौतिक जगत् में कला द्वारा सौन्दर्य उत्पन्न

करने में है। और जब अपरा प्रकृति भी सचाई, भलाई, प्रेम, सामञ्जस्य और सौन्दर्य के प्रकाशन का साधन बन जाएगी तब यही दुःख भरी दुनिया परम लोक व परमधाम हो जाएगी। यहीं, मरणोपरान्त नहीं, मनुष्य परम सम्पद तथा परम गति को पाता हुआ कृतकृत्य होगा।

(छ) अब तक सांसारिक मर्यादा का मानदण्ड सम्पत्ति तथा आय को समझा जाता था। किन्तु नई दुनिया में सम्मान का मान दण्ड उपयोगी तथा भली प्रकार किया हुआ निष्काम कर्म होगा। और पृथक् सम्पत्ति तथा आय को पाशविकता का माप समझा जाएगा। निज़ी लाभ व व्यक्तिगत सम्पत्ति चाहने वाले लोग समाज के शत्रु समझे जाएंगे। किसी व्यक्ति की महानता का अनुमान केवल इस बात से लगाया जायगा कि उसने अपने तथा दूसरों के सामूहिक जीवन की उन्नति तथा पूर्णता के लिए क्या कुछ किया है। और कहाँ तक वह अवैयक्तिक उद्देश्यों के लिए जीता है। मजबूरी गरीबी साधुता का लक्षण नहीं एक असह्य अभिशाप, और वैयक्तिक सम्पत्ति गौरव की बजाए लज्जाकारक मानी जाएगी। लोग परस्पर मिलकर एक दूसरे के लिए जीना सीखेंगे और केवल निजी उन्नति तथा मुक्ति को एक प्रकार की सामाजिक व्याधि समझा जाएगा। अविद्या, दारिद्र, बीमारी और अत्याचार की समस्याओं को सामूहिक रीति से हल किया जाएगा। और इन समस्याओं के हल में सैद्धान्तिक तथा क्रियात्मक रूप में सहायता देने वालों को ही महापुरुष या महात्मा की पदवी मिल सकेगी। संसार से भाग कर गुफाओं में छिपने वालों को कभी नहीं। और आने वाले युग में दानी के घमंड और भिखारी की हीनता के लिए कोई स्थान ही न होगा।

———

२१. दो बड़े तत्व तथा भ्रम

मनुष्य केवल एक प्रकार का उन्नत पशु ही नहीं, प्रत्युत् कुछ और भी है। इस **और** में ही तो उसकी विशेष महानता का भेद निहित है। और वह जब तक इस भेद को यथावत् जान नहीं लेता, अपनी पूर्णता को लाभ नहीं कर सकता।

पशु पक्षी भी जीते तो हैं, किन्तु वह अपने जीने को जानने, समझने, अध्ययन करने की योग्यता नहीं रखते। जबकि मनुष्य केवल अपने जीने को जानता ही नहीं, बल्कि इसके अर्थ, उद्देश्य तथा मूल्य का विचार भी करता है। उसे अपनी वास्तविक सत्ता के ज्ञान के साथ साथ अपनी सम्भाव्य व आदर्श सत्ता का भी ख्याल आता है। वह अपने होने पर वर्तमान से सन्तुष्ट न रहता हुआ सोचा करता है कि वह भविष्य में क्या हो सकता है। आदर्श दर्शन की योग्यता किसी अन्य प्राणी में नहीं देखी जाती। मनुष्य अपने सम्भाव्य रूप के सम्मुख अपने को अपूर्ण देखकर असन्तुष्ट और बेचैन हो रहा है और इसी दिव्य असन्तोष में उसकी अनन्त प्रगतिशीलता का बीज पाया जाता है। यदि वह इतर जीवों के समान अपनी वर्तमान दशा में सन्तुष्ट रह सकता, तब वह कोई उन्नति न कर सकता। इसलिए उसकी वर्तमान अशान्ति तथा आकुलता भी वस्तुतः उसके भावी परमानन्द की ही सूचक है।

किन्तु, आत्म ज्ञान की कमी यहां पर एक और भ्रम खड़ा कर देती है, जो मनुष्य को लगातार ऊपर उठाने के स्थान में उसके अथाह अधःपतन का कारण हो जाता है। इस महत् भ्रम की उत्पत्ति यों होती है कि मनुष्य अपने अनजानपन में अपने को अपनी वास्तविक सत्ता मान कर **अपनी ही सम्भाव्य** सत्ता को अपने से एक अन्य तथा पृथक् सत्ता निश्चय करके उसकी पूजा-अर्चना करने लगता है। और अज्ञान-वश यह नहीं जानता, कि

जिसे वह उच्चतम इष्टदेव मान कर उसकी शरण ले रहा है, वह वास्तव में उसकी ही अखण्ड सत्ता का दूसरा सिरा है। ससीम और असीम, अपूर्ण और पूर्ण उसके अपने ही अविभाज्य पक्ष हैं।

इस पुराने तथा व्यापक भ्रम के फलस्वरूप मनुष्य अपने को महान, शक्तिमान, अनन्त और एक दिव्य सत्ता मानने और जानने के स्थान में अपने को दीन हीन जानकर अपने ही सम्भाव्य रूप की शरण लेता हुआ **मैं मूर्ख खल कामी** का गीत अलापने में ज़रा नहीं शरमाता ! और अपने अनन्त आदर्श की ज्योतिर्मय ऊँचाइयों में निरन्तर उठते चले जाने की बजाय वह अपने को अत्यन्त तुच्छ और नीच मानकर झूठी नम्रता का अभ्यास करने लगता है। और दासता, अधीनता, तुच्छता, नगण्यता, आत्मग्लानि को ही अपना सर्वस्व मान लेता है। और इस अटल मनोवैज्ञानिक नियमानुसार कि "हम जैसा सोचते हैं, वैसे ही हो जाते हैं", वह उत्तरोत्तर नीचे से नीचे गिरता चला जाता है। यह अविद्या की माया ही है जिसने मनुष्य को एक धनात्मक सत्ता से ऋणात्मक सत्ता में बदल डाला है ! आप **"सब कुछ"** होता हुआ भी अपने को **"कुछ नहीं"** मान बैठता है। इस परम् तत्व को भूल कर कि उसका जीवन अपने ही सम्भाव्य ईश्वरत्व तथा ब्रह्मत्व को लाभ करने में है, वह किसी अन्य सत्ता के आगे झुकने और याचना करने में ही अपना निश्रेयस् देखता है ! और आत्म-मर्यादा और और आत्मावलम्बन को जो कि आस्तिक्य के चिन्ह हैं, नास्तिक्य ख्याल करता है। ईश्वर तथा ब्रह्म तो इसकी अपनी सम्भाव्य पूर्णता के नाम हैं। किसी अन्य सत्ता के नहीं।

मानव स्वभाव का दूसरा बड़ा रहस्य यह है कि यह अपने हृदय में एक पूर्ण वा आदर्श जगत् का चित्र अंकित पाता है, जिसके रूबरू यह वर्तमान जगत् विरक्तिकर तथा असंतोषजनक प्रतीत होने

लगता है। और इसलिये इस पृथ्वी पर मनुष्य ही एकमात्र ऐसा जीव है, जो इस वास्तव जगत् की कड़ी आलोचना करता है। इसने एक ऐसे आदर्श का स्वप्न देख पाया है, जिसमें ऊनता, व्याधि, दारिद्र, दुःख, कदर्यता, मलिनता, कोलाहल का लेशमात्र भी नहीं है। और जिसमें पूर्णता, आरोग्य, स्मृद्धि, सुश्रृंखला, आनन्द, सौन्दर्य, स्वच्छता और संगीत का अजस्त्र प्रवाह जारी है।

वास्तव में जहां उपरोक्त रहस्य मनुष्य को यह बतलाता है कि उसे क्या **होना** है, यह दूसरा रहस्य यह दिखाता है, कि उसे क्या **करना** है। यह वास्तविक संसार जैसा भी है मनुष्य के लिए एक चुनौती और अवसर है। वह यहाँ योनि भोगने नहीं आया। वह तो इसलिये वजूद में आया है कि इस प्राकृतिक जगत् के कच्चे मसाले को मानव मूल्यों द्वारा रूपान्तरित कर दे। नर्क को ही स्वर्ग में परिणत कर डाले। इसी में ही तो उसकी आत्मोप्लब्धि तथा स्वभाव लाभ है, और यही उसकी जीवन मुक्ति है। जीने से मुक्ति (छुटकारा) नहीं।

किन्तु यथार्थ आत्मज्ञान न होने के कारण मनुष्य ने जो अपने ही सम्भाव्य जगत् का स्वप्न देखा है, उसे वह कहीं आकाश में कल्पना करके उसे स्वर्ग आदि कई प्रकार के नाम देकर मरने के बाद वहां जा कर बसने की आशा करता है। उस की सारी रुचि इस लोक से हट कर कल्पित परलोक की ओर बह जाती है और परलोक के ठेकेदारों की दुकानें खूब चलनें लगती हैं। अज्ञान के धुंधल्के में शोषण का बाजार गरम हो जाता है। जीवन से उदासीनता फैल जाती है और संसार में सर्व प्रकार की प्रगति रुक जाती है। हालांकि इस पृथ्वी पर मनुष्य का अभ्युदय अब और यहीं स्वर्ग निर्माण के लिए हुआ है, जगत् या जीवन से भागने या इन्हें भुला देने के लिये नहीं। मानव जीवन की

सफलता आत्मविकास तथा भद्र संसार की नित नयी रचना में है। यही एकमात्र सच्चा मानव धर्म है।

---

२२. जीवन ही धर्म है

धर्म तत्व को समझने के लिए सत व मत में प्रभेद करना आवश्यक है। मत से हमारा अभिप्राय वह विश्वास है जो हम अतिप्राकृतिक शक्तियों (देवी-देवताओं), परलोक तथा मानवात्मा की नियति के विषय में रखते हैं। इस प्रकार के विश्वास (मत) से उत्पन्न होने वाले अनुष्ठानों द्वारा हम अपने इष्ट देव से मिलना तथा परलोक में सुख प्राप्त करना चाहते हैं। मतों की दृष्टि में पार्थिव जीवन मानो एक प्रकार का निर्वासन है। इस पृथ्वी पर न तो हमारा घर है, और न हमें यहाँ अपने इष्टदेव के सहवास की आशा हो सकती है। हाँ, शारीरिक आवरण उतरने पर ही हमारी आध्यात्मिक नग्नता हमें इस सहवास का अधिकारी बना सकती है।

किन्तु धर्म ऐसे विश्वासों तथा अनुष्ठानों की वस्तु नहीं। यह तो दिन प्रति दिन तथा क्षण प्रति क्षण का जीवन है। इसके दो बड़े अंग आत्मानुभूति तथा आत्म प्रकाश हैं। हम यहाँ परलोक की तैयारी वा किसी बाह्य इष्ट देव के अनुसन्धान के लिए सत्ता सम्पन्न नहीं हुए।

मत की नींव बाह्य (शास्त्रीय) प्रमाण पर है। और इसका कृत्य अतीत काल का अनुकरण है। किन्तु धर्म ज्योति हमारी आत्म सत्ता से विकिरित होकर नित नए तथा भद्रतर भविष्य की रचना करती है। मत प्रथा को जन्म देता हुआ जीवन की लचक को नष्ट करता है, जब कि धर्म हमें प्रथाओं से मुक्त करता हुआ

सदा बढ़ने वाली लचक देता है। दूसरे शब्दों में मत मानसिक जीर्णता लाता है, जब कि धर्म शरीर के जीर्णशीर्ण होने पर भी मानसिक यौवन, तेजस्विता तथा नूतनत्व को लगातार बनाए रखता है।

मत हमें अपनी सत्ता तथा संसार से यदि विरक्त नहीं तो उदासीन करके बाह्य ईश्वर तथा स्वर्ग पर हमारा ध्यान केन्द्रित करता है। और इस की दृष्टि में हमारा पार्थिव जीवन परलोक की तैयारी के सिवा अन्य कोई प्रयोजन ही नहीं रखता। किन्तु धर्म हमें सिखलाता है कि हमारा इष्ट देव हमारे भीतर ही विद्यमान है, और इसी पृथ्वी पर ही हमने स्वर्ग-निर्माण करना है। धर्म कहता है, "तुम्हारी अपनी अन्तरात्मा ही जीवन्त भगवान् है, और अपने दैनिक व्यवहार में इसी भीतरी ऐश्वर्य तथा सौन्दर्य के प्रकाश का नाम ही स्वर्ग है।" मत हमें भविष्य का सन्देश देता है; धर्म वर्तमान में ही नित्यता का दर्शन कराता है। इसकी नित्यता काल गत दीर्घता के स्थान पर आध्यात्मिक गुणों से सम्बन्ध रखती है।

मत सर्वदा जीवन के किसी एक अंश से सम्बन्ध रखता है किन्तु धर्म न केवल समस्त जीवन को अपने में प्रवेश देता है, अपितु स्वयं जीवन है। धर्म हमें सब की एकता, सब के लिए प्रीति और सब की भलाई का पाठ पढ़ाता हुआ हमारे प्रत्येक क्षणिक संकल्प, भाव तथा कर्म से सम्बन्ध रखता है। और उस का सम्बन्ध केवल जागृत अवस्था तथा चेतन मन से ही नहीं होता बल्कि वह हमारे स्वप्न जगत् से भी सम्बन्ध रखता है। मत तो हम से केवल इतना ही पूछा करता है कि "तुम क्या मानते हो और कौन कौन से अनुष्ठान किया करते हो?" जब कि धर्म यह प्रश्न करता है कि "तुम स्वयं क्या हो? तुम्हारा दृष्टिकोण और कृत्य क्या हैं? तुम किस लिए जीते हो? केवल अपने या सब के कल्याण के लिए?"

मत सम्प्रदायिकता को उकसाता हुआ मानव जगत् में विभाजन का कारण बनता है और द्वैत भाव को बढ़ाता हुआ अपनी विशिष्टता, पूर्णता तथा सचाई का घमंड रखता है। जब कि धर्म वर्ण, वंश, देश व काल के भेदों से ऊपर विराजता है। उसकी दृष्टि में विश्व जगत् तथा इसका उद्गम, इसका नियम एक है। मानवता एक है और सचाई भी एक है। विभिन्नता केवल बाह्य रूपों में है। आन्तरिक सारतत्व में नहीं। इसी लिए यह भेदों को मिटाता हुआ सर्व द्वन्द्ध में एकत्व का दर्शन करता है।

मत में मनुष्य अपने ही कल्याण तथा मोक्ष को अपने सामने रखता है। इसके आध्यात्मिक साधनों में सूक्ष्म व उग्र स्वार्थपरता पाई जाती है। किन्तु धर्म अहंकार को अपने जीवन का केन्द्र बनाने के स्थान पर उसे अवैयक्तिक उद्देश्यों की सेवा में नियुक्त करता है। धार्मिक मनुष्य सर्व भूतों के हित में मग्न हो कर अपने व्यक्तिगत कल्याण तथा मोक्ष का कोई ख्याल ही नहीं रखता। मत जीवन को अपना एक साधन जानता है, किन्तु धर्म न तो किसी का साधन और न किसी का साध्य है। अपितु स्वयं जीवन, जीवन का स्वास्थ्य तथा पूर्णता है।

मत कहता है, विश्वास लाओ। ईश्वर पर भरोसा रखते हुए बस उसी के हो रहो। तुम अपने हो ही नहीं और वास्तव में ईश्वर ही सब का आदि अन्त है। किन्तु धर्म, संशय को आमन्त्रित करता हुआ प्रश्न के लिए प्रोत्साहित करता है। वह सिखलाता है कि सचाई को शास्त्रीय प्रमाणों के स्थान पर अपनी आन्तरिक दिव्य ज्योति से परखा करो। इसी आत्मज्योति को दिन प्रति दिन विकसित करते हुए इसका अवलम्बन करो। बाहर से सहायता माँगने की बजाए अपने भीतर की अपरिमित शक्ति को जगाओ। समाज के साथ सामूहिक कल्याण के लिए सहकारी

बनो। अपनी सत्ता में अटल विश्वास रखो। तुम्हारा होना धोखा नहीं है। और न तुम किसी की सम्पत्ति हो। तुम स्वरूपतः स्वतः-सिद्ध तथा स्वयं ज्योति हो। तुम्हीं तो जगत् और परमात्मा के अस्तित्व का अन्तिम प्रमाण हो। तुम ज्योतियों की ज्योतिः हो। अपरा प्रकृति की राह से अपनी ही परा प्रकृति का प्रकाश करो। तुम्हारी परा प्रकृति की विभूतियों का कोई अन्त नहीं है। और तुम्हारा जीवत्व परा प्रकृति के प्रकाश का एक केन्द्र है।

मत सुलाता है, वास्तविकता के प्रति। धर्म जगाता है तथ्यता की ओर। मत दायित्वहीन बनाता है। धर्म दायित्व की शिक्षा देता हुआ कहता है कि तुम अपनी सृष्टि के लिए स्वयं उत्तरदायी हो। मत कहता है कि तुम एक क्षुद्र जीव हो। धर्म कहता है कि तुम आप ही अनन्त स्रष्टा हो, अपने भाग्य विधाता हो। मत भूलो अपने अत्यन्त छोटे आकार पर। जागो अपनी अनन्त आत्मा में। जीवन की पूर्णता दूसरों से अलग थलग सिद्धि प्राप्त कर लेने में नहीं बस, सब के साथ मिल कर जीने में है। संसार और समाज से ईश्वर की ओर दौड़ना छोड़ कर अपने आप में आ कर स्थित-प्रज्ञ हो जाओ। अपनी सत्ता में डुबकी लगाओ। तब तुम समस्त जगत् तथा जगदीश्वर दोनों ही अपने अन्दर पाओगे। तुम ही सब कुछ हो। **तत्त्वमसि** (वह तुम हो)। दासोचित भावों को छोड़ कर आत्माभिमानी और आत्मनिर्भर बनो तथा अपनी ही परा प्रकृति द्वारा इस आपाततः जड़ प्रकृति को मूर्तिमान सचाई भलाई तथा सुन्दरता बना दो। इसी कार्य के लिए तुम्हारा यहाँ अभ्युदय हुआ है। तुम्हारा निजघर, स्वदेश, कर्तव्य और यहीं है, अन्यत्र कहीं नहीं। और तुम्हारे अध्यात्म मोक्ष का समय अब है, और कभी नहीं।

हमारा उद्देश्य

१. आत्मा (ब्रह्म) के अपरोक्ष ज्ञान के प्रसार द्वारा मानव जाति में ऐक्य भाव तथा सहकारिता की स्थापना।

२. जीवन-कला का प्रचार।

३. इसी पृथ्वी पर ही स्वर्ग-निर्माण तथा जीवन-मुक्ति का मार्ग दर्शाना।

४. सर्व-साधारण को साम्प्रदायिकता के स्तर से ऊपर उठाना।

५. वैज्ञानिक दृष्टि तथा स्वतन्त्र विचारधारा का उद्रेक।

६. अतीत काल की गुप्त आध्यात्मिक निधियों का अनावरण।

७. विश्व शान्ति व सर्वोदय का सरल पथ-प्रदर्शन।

८. जीवन की प्रगति में बाधक भ्रमों तथा मिथ्या विश्वासों का उन्मूलन।

सत्-ज्ञान परिषद्

कमला नगर, देहली-६.

आगामी प्रकाशन

चरित्र विकास

यदि इस पुस्तक को चरित्र-विज्ञान का नाम दिया जाए, तो अनुचित न होगा। इसमें चरित्र और सदाचार में प्रभेद करते हुए इसकी नींव आत्मज्ञान पर रख कर इसके मौलिक तत्वों—सत्य विश्वास, साहस, निर्भयता, सच्चाई, प्रेम, सेवा, मुदिता, भव्यता की अत्यन्त प्रभावशाली रूप से समीक्षा की गई है। और निर्बाधता, स्वार्थपरता तथा आलस्य—इन तीन मूलीभूत दोषों की जड़ आत्मप्रमाद में दिखला कर प्रेम के रासायनिक प्रभाव, निरन्तर प्रगति, जीवन-योग तथा जीवन मुक्ति के विषय में ऐसे ज्योति-तेज-प्रद विचार दिए गए हैं, जो सचमुच नवजीवन देने वाले हैं।

सम्यक् ज्ञान

सर्व दर्शन की चूड़ामणि वेदान्त पर यह एक अपूर्व ग्रन्थ है। इसमें आत्म (ब्रह्म)-ज्ञान के परम निगूढ़ तत्व को आधुनिक भाषा में व्यक्त कर के सर्वसाधारण के लिए अत्यन्त सुगम तथा सरस बना दिया है कि इसके अध्ययन-मात्र से ही आत्म साक्षात्कार होकर सब संशय-विपर्यय का नितान्त उन्मूलन हो जाता है। ग्रन्थ-कार की यह अति उत्कृष्ट कृति में जीवन के इन चार महत्वपूर्ण प्रश्नों का पूर्णतः सन्तोषजनक उत्तर दिया गया है :—

१. मैं कौन हूँ ?
२. यह (जगत्) क्या तथा
३. क्यों है ?
४. मानव जीवन का अर्थ तथा उद्देश्य क्या है ? और इस की पूर्णता तथा सफलता किस बात में है ?